सिद्धयोग

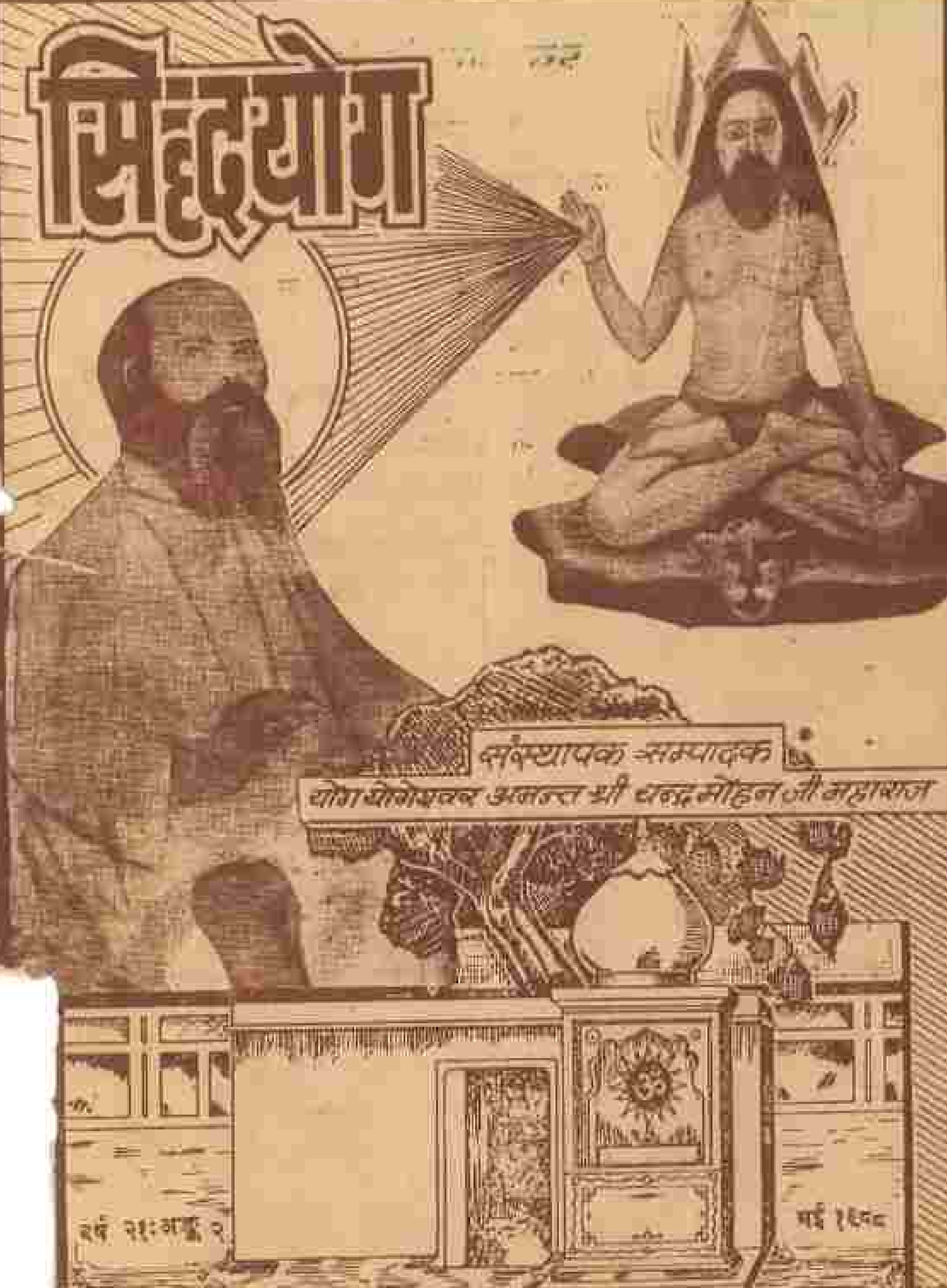

संस्थापक सम्पादक

योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष २१ : अङ्क २

मई १९७८

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन संवाई, आगरा

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा सराईं

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

मई
१९८८

इस अंक के लेख—

★ तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् (कविता) १

★ श्री प्रभुजी का बाल्यकाल (विशेष लेख) २
● योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

★ योग और योगी ५
● श्री रामकिशन मिश्र

★ आवेश-तत्व और लोक कल्याण १०
● श्री डा० विजय सिंह

★ प्रभोः श्री रामलालस्य श्लोक शतकैरर्चनम् वंदनं च १३
● श्री द्वारकाप्रसाद शर्मा (लखनऊ)

★ नत्वं-पुण्यं-फलं-तोयम् २३

★ प्रसन्नता
● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

★ पूजा का स्वरूप एवं उसकी उपयोगिता ३०
● श्रीमती पद्मा

★ अमृतवर्षिणी गुरुवाणी ३५
● श्री डा० ऋषिराम शर्मा

★ बन्धन एवं मोक्ष का हेतु मन ४०
● श्री पूर्णचन्द्र शास्त्री

★ मन और योग ४४
● श्री मनमोहन चन्द्र मिश्रा

★ सिद्ध गुफा का योग महामेला तथा
प्रभुजी का जन्म-शती समारोह ४८

वार्षिक मूल्य ३५ रुपया। इस अङ्क का ४ रुपया

अवश्य आइये ।   अवश्य पढ़िये ।

योग-साधन आश्रम ऋषिकेश

का

वार्षिक योग महोत्सव

सभी गुरु भाई-बहिनों को यह जानकर हर्ष होगा कि सुप्रसिद्ध योग-साधन आश्रम ऋषिकेश का वार्षिक 'योग महोत्सव' शुद्ध ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी, नवमी, दशमी तदनुसार तारीख २२, २३, २४ जून ८८ ई० दिन बुधवार, गुरुवार व शुक्रवार को मनाया जायेगा ।

सदा की भाँति उत्सव का कार्यक्रम बहुत ही रोचक और उपयोगी बनाने का आयोजन किया गया है । उत्सव में योग-सिद्धान्तों पर उच्चकोटि के प्रवचन, उपदेश, भजन एवं सुमधुर शास्त्रीय सङ्गीत आदि का कार्यक्रम रहेगा । आश्रम के ब्रह्मचारी यौगिक क्रियाओं का प्रदर्शन भी करेंगे । सभी योग-प्रेमियों को इस समारोह में सम्मिलित होकर लाभ उठाना चाहिए ।

सभी गुरु भाई-बहिनों को श्री गुरुदेवजी की ओर से इस उत्सव के निमन्त्रण-पत्र भी भेजे जा रहे हैं । किन्तु कभी-कभी डाक की गड़बड़ी के कारण समय पर पहुँच नहीं पाते हैं अतः सभी भाई-बहिन इस सूचना को ही अपना आमन्त्रण समझते हुए उत्सव में सम्मिलित हों ।

नोट—२४ जून शुक्रवार गंगा दशहरा को नगर शोभा-यात्रा (जलूस) का आयोजन है जिसमें बैंड बाजे के साथ विविध झाँकियों का अवलोकन रहेगा । शोभा-यात्रा सायं ६ बजे योग-साधन आश्रम से प्रारम्भ होकर ऋषिकेश के मुख्य बाजारों से होती हुई रात के ११ बजे आश्रम वापस पहुँचेगी । अतः सभी सत्संग-प्रेमियों को उत्साह से भाग लेकर शोभा-यात्रा एवं समारोह में सम्मिलित होना चाहिए । आगन्तुकों को मौसम के अनुसार अपने बिस्तर आदि अवश्य साथ लाने चाहिए ।

मन्त्री—योग-साधन आश्रम

रेलवे रोड ऋषिकेश (उ०प्र०)

मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल

में

श्री गुरूदेव जी का योग-प्रचार कार्यक्रम

सभी गुरु भाई-बहनों को यह जानकर हर्ष होगा कि परम पूज्य श्री सद्गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल में दिनाङ्क ३१ मई ८८ से ५ जून ८८ ई० तक के लिए योग-प्रचार कार्यक्रम हेतु अपनी स्वीकृति प्रदान करदी है। यह कार्यक्रम भोपाल में बड़ी धूमधाम से मनाये जाने का आयोजन किया जा रहा है। अतः सभी योग प्रेमी गुरु भाई-बहनों को इस महत्वपूर्ण समारोह में योगामृत पान करने के सुअवसर का लाभ इसमें सम्मिलित होकर लेना चाहिए।

आशा है सभी भाई-बहन अवश्य ही अधिक से अधिक संख्या में पधार कर आयोजन की सफलता में अपना हाथ बटायेंगे।

कार्यक्रम स्थल :
अग्रवाल विश्रान्ति भवन
दयानन्द चौक,
जुमेराती भोपाल

निवेदक :
बी० डी० सिंह
एम. आई. जी. बी-३
सोनागिरि पिपलानी,
भोपाल (म० प्र०)

इसके पश्चात् आगे कार्यक्रम इस प्रकार रहेंगे :—

मुजफ्फर नगर—योग प्रचार कार्यक्रम

दिनाङ्क ७ जून, ८८ से १५ जून ८८ तक — मुजफ्फरनगर नगर में योग-प्रचार कार्यक्रम

पता—
श्री ओमप्रकाश बादरी वाले
मुहल्ला गौशाला गली
म० नं० १६६, मन्दिर रोड
मुजफ्फर नगर

दिनाङ्क १६ जून ८८ को ऋषिकेश के लिए प्रस्थान

दिनाङ्क २२, २३, २४ जून को वार्षिकोत्सव ऋषिकेश आश्रम

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २१ अङ्क २	ध्यायं ध्यायं पवित्रं परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुखं च विजहतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तस्मात्प्राप्यार्थम् बहुविधं योगमार्गोपदेशात्, कल्याणार्थं भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग:'॥	मई १९८८

तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता

पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता

तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

अर्थात्

वह परमात्मा हाथ पैरों से रहित होकर भी समस्त वस्तुओं को ग्रहण करने वाला और वेग पूर्वक चलने वाला है। आँखों के बिना ही वह देखता है और बिना कानों के ही सब कुछ सुनता है। जो कुछ भी जानने में आने योग्य वस्तु हैं उन सबको ही जानने वाला है किन्तु उसे जानने वाला कोई नहीं है। ज्ञानी पुरुष उसी को महान और आदि पुरुष कहते हैं।

—श्वेताश्वतरोपनिषद

हमारा विशेष लेख—

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री प्रभु जी के दिव्य जन्म सम्बन्धी चालू लेखमाला के इस भाग में श्रद्धेय श्री गुरुदेव जी महाराज ने इस सिद्धान्त को पुष्ट किया है कि जिस स्थान पर किसी सिद्धयोगी का जन्म होता है वहाँ वह घर और कुल ही नहीं किन्तु समूचा जनपद ही कृतार्थ हो जाया करता है।

यस्मिन् देशे कुलयोगी,
ध्यान-योग विचक्षणा।
सोऽपि देशो भवेत् पूतः,
किम् पुनस्तस्य बान्धवाः॥

—सं० सम्पादक

श्री प्रभुजी का ★ ★
★ ★ ★ बाल्यकाल

जन्म ग्रहण करने से पूर्व श्री माता भागवन्तीदेवीजी यह निरन्तर देखती रहीं कि उनके गर्भाशय में एक विशाल तेज चमक रहा है और वह तेज इतना दीप्तिमान है जिसको सहन करना उन्हें कठिन हो रहा था। इसी प्रकार जन्म ग्रहण कर लेने के बाद भी श्री माताजी यह देखती रहीं कि उनके वामाङ्ग में उनका बच्चा चारों ओर तेज से परिपूरित है। श्री माताजी का मन श्री प्रभुजी के उस अलौकिक तेज को देखकर बड़े ही आमोद-प्रमोद से परिपूरित रहता था और उनको स्वयं भी बड़ी-बड़ी दिव्य अनुभूतियाँ होती थीं। श्री माताजी कभी-कभी बड़े-बड़े वन-खण्डों को देखती थीं और उन बड़े-बड़े वन-खण्डों में महासिद्धों के दर्शन भी उन्हें होते थे। सिद्ध-लोग श्री माताजी को अधिकांशतः नमन करते थे और कोई-कोई महासिद्ध आशीर्वाद देते थे। कभी-कभी दिव्य तेजयुक्त किसी महात्मा को अपनी गोद में बैठा देखती थीं और उन्हीं को बालक रूप में बदला हुआ देखती थीं। ऐसी-ऐसी दिव्य अनुभूतियों के अनुभव श्री माताजी को होते रहे और आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के जन्म लेने के बाद गोद खिलाते हुए, लालन-पालन करते हुए उन्हें अनेक दिव्य आशीर्वाद प्राप्त हुए। शनैः शनैः वे दिन भी बीतते गये और नामकरण का समय आ गया। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के पिताजी श्री पं० गङ्गारामजी ने बड़े-बड़े विद्वान् पण्डितों को अपने घर बुलाया। उन पण्डित लोगों ने भी अपनी ज्योतिष-विद्या के आधार पर ग्रह-नक्षत्रों का विचार कर कहा कि यह बालक साधारण बालक नहीं है, कोई दिव्य महापुरुष है, क्योंकि इसका जन्म श्रीरामनवमी के दिन हुआ है। अतएव इसका नाम श्रीरामलाल रखना ही सर्वथा उचित है। अतः श्रीप्रभुजी का नाम 'रामलाल' रखा गया। श्रीमाताजी ज्यों-ज्यों श्री प्रभुजी को लाड़-लड़ातीं, त्यों-त्यों उनका मन उमंग-तरंगों से भरता रहता था। बाल्यावस्था में श्री प्रभुजी के विश्राम के लिए पलना डाल दिया गया, उस दशा में भी वह तेज से परिपूर्ण दिखाई देते रहे। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती रही, श्री प्रभुजी ने घुटनों के बल

चलना आरम्भ किया, यह चलना भी उनका मोद भरा रहा। सामान्य बालकों जैसी उनकी स्थिति दिखलाई नहीं देती थी। चलते-फिरते किसी क्रीड़ाके अन्दर जब उनको कोई खिलौना देकर खिलाया जाता था, उस खिलौने को लेकर वे उसको देखते रहते और देखते-देखते ही एकायक बहुत ही भाव-विभोर जैसे हो जाते। आसपास देखने वाले सभी स्त्री-पुरुष देखकर आश्चर्यचकित होते कि यह बालक क्या सोचने लग जाता है और इसके मस्तिष्क पर ऐसा तेज कैसे चमक उठता है, जैसा कि किसी समाधिस्थ योगी पर चमकता है। वे देखते-देखते झट खिलौने को फेंक देते और मुस्कराकर पुनः खेलने लगते और घुटनों के बल से ही भाग निकलते। इस प्रकार लालन-पालन में श्री प्रभुजी की आयु जब लगभग तीन वर्ष की हो निकली, उस समय उनके पूज्य पिताजी पं० गण्डाराम जी उनको गोद में खिलाने लगे और कभी-कभी अपनी गोदमें ही अपने पास सुला लिया करते थे। जिस समय श्री पं० गण्डारामजी अपने पुत्र को गोद में लेकर सोते तो उनका शरीर और मन अलौकिक दिव्यानुभूतियों से भर जाया करता था। एक प्रकार से उनको स्वतः ही दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती थी एवं स्वतः ही लोक-लोकांतर दृष्टि में आने लगते। वह हार्द दीक्षा थी जो श्री प्रभुजी के स्पर्श मात्र से पं० गण्डारामजी को अनायास प्राप्त हुई। हमारा शास्त्रीय सिद्धांत है—

यस्मिन् देशे वसेद्योगी,
ध्यानयोग विचक्षणः।
सोऽपि देशो भवेत् पूतः,
किम् पुनस्तस्य बान्धवाः॥

अर्थात् जिस देश में एक ध्यानयोगी वास करता है, वह देश का देश पवित्र हो जाया करता है। तब मैं उसके बन्धु-बान्धवों का तो कहना ही क्या। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के सम्पर्क से उनके कुटुम्बीजन सभी पूर्ण-रूपेण कृतार्थ थे। साधारण योगी के सम्पर्क से सभी बान्धव तक कृत-कृत्य हो सकते हैं, तब उन परम योगेश्वरजी का तो कहना ही क्या! शनैः शनैः श्री प्रभुजी की आयु बढ़ने लगी और छोटी-छोटी बालपन की क्रीड़ायें भी चलती रहीं। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के कौटुम्बिक सम्पर्कों में, उनके मकान से थोड़ी दूर पर एक वृद्धा निवास करती थी। अकस्मात् वह बीमार हो गई और उसका मृत्यु-काल निकट आ गया। उसको जन्म-जन्मांतर के अभ्यास से दिव्य,दृष्टि प्राप्त थी, जिससे उसने भली प्रकार से जान लिया कि मेरा मृत्यु-काल अब बहुत निकट है। मृत्यु से कुछ ही देर पहले उसने श्री प्रभुजी को याद किया और अपने कुटुम्बी लोगों से कहा—पं० गण्डारामजी के घर में जिसने जन्म लिया है, उसके मुझे दर्शन करा दीजिए। मेरा यह अन्तिम समय है, उसकी कई बार ऐसी प्रार्थना करने पर बाल-रूप श्री प्रभुजी को वहाँ लाया गया। सभी कुटुम्बी लोग यह देखकर आश्चर्य-चकित रह गये कि उस बुढ़िया के पास श्री प्रभुजी स्वयं ही पहुँच गये और उसकी छाती पर अपना पैर रख कर तोतली जबान से कहने लगे—"ले अब तू जा।" श्री प्रभुजी की इस वाणी को सुन करके बुढ़िया का मन प्रसन्नता से भर गया, क्योंकि बुढ़िया मरणासन्न अवस्था में थी। अतः बोल तो सकती ही नहीं थी, किन्तु आँख के इशारे से श्री प्रभुजी की आज्ञा न

स्वीकार किया और थोड़ी ही देर बाद उसने प्राणों को छोड़ दिया। बुढ़िया परम-गति को प्राप्त हुई। यह उन दीनबन्धुजी की उत्कृष्ट कृपा का ही परिणाम रहा, सभी निकट-वर्तियों ने भली प्रकार समझ लिया और सभी यह सोचने लगे कि यह बालक कोई साधारण बालक नहीं है, प्रत्युत कोई पूर्ण योगेश्वर है।

पं० गंगारामजी के धन्य भाग्य हैं जिनके घर में इतने बड़े महापुरुष का प्राकट्य हुआ। सभी लोग वाह-वाह और धन्य-धन्य कहने लगे। बाल्यकाल में श्री प्रभुजी के साथ में खेलने वाले कितने ही साथियों को भी इस प्रकार की चमत्कृतियाँ हुईं। वे लोग श्रीप्रभु जी को अपना साथी व मित्र तो मानते ही थे, किन्तु सभी को यह भास भी बराबर हो गया कि हमारे साथ में खेलने वाला यह हमारा साथी महापुरुष है। कई साथियों को श्री प्रभुजी अपने श्रीमुख से यदि कह देते थे कि जा तेरा यह काम हो जायेगा तो वह काम तत्काल हो भी जाया करता था। इस प्रकार की घटनाओं से सभी साथी लोग आश्चर्य-चकित थे और यह सोचते रहते थे कि इस रूपमें ये कौन महापुरुष हैं? खेल-कूद के बाद जब बच्चे अपने घरों को लौट जाया करते थे, तो उन सभी को श्री प्रभुजी की याद एवं खेल की विलक्षण स्मृतियाँ बनी रहा करती थीं। दिन भर में खेल-कूद में साथ रहने पर भी उनके मन में मिलने की लालसा बराबर बनी रहती थी। अतिशय प्रेम के कारण सभी बालक श्री प्रभुजी को स्वप्नों में भी अपने साथ देखते थे एवं प्रातःकाल उठने के बाद खेल-कूद में बुलाने के लिए इकट्ठे होकर सभी बच्चे श्री प्रभुजी के घर पर आया करते थे। इन सब बालकों पर यह श्री प्रभुजी का दिव्य आकर्षण और कृपा थी।

समाधि में विघ्न हैं सिद्धियाँ

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्रों के रूप में भारतीय विचारधारा को जो स्वरूप प्रदान किया है, उसे अपने आप में अद्वितीय माना जा सकता है। मानव-जीवन का सारा खेल चित्तवृत्तियों का है। उनका निरोध ही जीवन की सच्ची साधना है। चित्त की वृत्तियाँ ही मनुष्य को ऊपर उठाती हैं और गलत दिशा में बहने पर उसे पतन के गर्त में भी गिराती हैं। योगसूत्रों में विस्तार से बताया गया है कि चित्त की वृत्तियाँ क्या हैं और किस प्रकार उनका निरोध किया जा सकता है।

गीता में साधना के लिए जिन दो अनिवार्य साधनों का प्रतिपादन किया गया है, वे हैं—अभ्यास और वैराग्य। महर्षि पतञ्जलि भी अभ्यास और वैराग्य पर सबसे ज्यादा जोर देते हैं और उनकी दृढ़ता के लिए साधनपाद में उपयुक्त साधनों का भी विस्तार से विवेचन करते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार से चलते-चलते वे धारणा, ध्यान और समाधि का विधिवत् विवेचन करते हैं। यह समाधि विभिन्न सिद्धियों की उपलब्धि में भी सहायक सिद्ध हो सकती है, ऐसा बताते हुए भी महर्षि पतञ्जलि ने सिद्धियों का तिरस्कार किया है। उनका कहना है कि सिद्धियाँ समाधि में विघ्न डालती हैं और सिद्धियों के मोह में पड़ने पर साधना का विकास रुक जाता है।

—कृष्णराज मेहता

योग और योगी

★ श्री रामकिशन सिवल

योग-शास्त्र के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि जी ने "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" इस सूत्र में चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा है। चित्तवृत्ति के निरोध करने में साधनीभूत जो योग हैं वे पाँच प्रकार के हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग और शिवयोग।

शिवनामृत व्याकरण के मत से शिव के साथ जीव की सन्धि हो सकती है, उसी सन्धि का नाम योग है। उस सन्धि की अवस्था में यद्यपि जीव शिव के साथ मिल जाता है, फिर भी दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व रहता है। इस प्रकार संधि की अवस्था में जीव के अस्तित्व का लोप नहीं होता।

योग एक प्रकार की शक्ति है, जिस शक्ति के प्रभाव से जीवात्मा परमात्मा के साथ युक्त होता है। जीवात्मा-परमात्मा की युक्तावस्था का नाम अध्यात्म योग है। अध्यात्म योग अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

जिस शक्ति के प्रभाव से जीव शिव का योग होता है, उसी को संघा-शक्ति कहते हैं।

ब्रह्म-सायुज्य निर्वाण भी नहीं है, लय भी नहीं है। सायुज्य का अर्थ है योग। दो विभिन्न चीजों का परस्पर योग ही दोनों का ऐक्य नहीं है। जीव-ब्रह्म का योग (सायुज्य) ही जीव-ब्रह्म का ऐक्य नहीं है।

लोहार की भाटी की आग से लोहा आग हो जाने पर भी लोहा ही रहता है, वह केवल अन्य अवस्थापन्न लोहा हो जाता है। उसमें से अग्नि के बुझ जाने पर फिर लोहा ही रह जाता है। अग्नि रहने पर दोनों मिले हुए हैं। उसी प्रकार जीवत्व और शिवत्व एक साथ रह सकते हैं। कभी योगावस्था में जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं, कभी अयोगावस्था में दोनों अलग-अलग रहते हैं। लोहा जलकर जब अग्नि बन जाता है, तब जो अवस्था होती है, उसी प्रकार की अवस्था जीवात्मा की भी परमात्मा के साथ योग होने पर होती है।

आत्मा परमात्मा में जो योग होता है, उसे आत्म-परमात्म योग कहते हैं। उस योग की अवस्थामें योगी को बाह्य चैतन्य बिल्कुल नहीं रहता।

जीवात्मा और परमात्मा का जो ऐक्य है वही वास्तविक योगावस्था है। उस ऐक्य से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसी आनन्द को हम आध्यात्मिक मैथुन कह सकते हैं। उस मैथुन के प्रभाव से परमा शांति नाम्नी कन्या उत्पन्न होती है।

प्रधानतः दो प्रकार का मुक्तियोग बतलाया गया है—नित्य मुक्तियोग और अनित्य मुक्तियोग। नित्य मुक्तियोग दुर्लभ है, किन्तु अनित्य मुक्तियोग समय-समय पर किसी-किसी महात्मा को प्राप्त होता है। परन्तु वह दीर्घकाल तक स्थायी नहीं होता।

नाना प्रकार के योग के प्रभाव से नाना प्रकार की घटनायें होती हैं। विविध क्रिया-

योग के द्वारा सृजन, पालन और नाश होता है। योग के बिना कुछ भी नहीं होता।

अधिक जप करने से, अधिक ध्यान करने से, अधिक हरि सङ्कीर्तन करने से अथवा अधिक हरि सङ्कीर्तन सुनने से, अधिक परिमाण में भगवान के सम्बन्ध में अन्य किसी प्रकार का संगीत गाने से अथवा सुनने से, भक्तों का अधिक संग करने से, भक्त-चरित्र का अधिक पर्यालोचन करने से, भगवद्भक्ति सम्बन्धी अधिक आलोचना करने से, भगवद्भक्ति और प्रेम सम्बन्धी किसी ग्रंथ का पाठ करने अथवा सुनने से अथवा ज्ञानपूर्ण अनेक बातें सुनने से मन स्थिर होकर एकाग्र हो जाता है।

जो योग की साधना करते हैं वे योग-साधक हैं; योग सिद्ध होने पर साधक को योगी कह सकते हैं।

योग-साधक और योग-सिद्ध एक श्रेणी के नहीं हैं। योग-साधक साधना करते-करते योग के कुछ अलौकिक अनुभव प्राप्त करते हैं, परन्तु उन्हें उस समय योग सम्बन्धी समस्त निगूढ़ तत्वों को हृदयङ्गम करने की शक्ति नहीं होती। सिद्धयोगी योग के सबध में सब कुछ जानते हैं। उनमें अलौकिक क्षमता अद्भुत शक्ति होती है। वह कितनी ही असम्भव बातों को सम्भव कर सकते हैं। उन्हें अद्भुत योग-विभूतियाँ प्राप्त होती हैं।

अत्यन्त ग्रीष्म काल में शरीर में जलन होने पर यदि सुशीतल जल में स्नान किया जाय तो उससे शरीर जल नहीं जाता, किंतु वह शीतलता की शक्ति से पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा का परमात्मा के साथ आध्यात्म योग होने पर जीवात्मा में परमात्मा की शक्ति संचारित होती है और वह परमात्म-शक्ति से पूर्ण होकर तन्मय हो जाता है।

भावात्मक सम्बन्ध भी एक प्रकार का योग है। ईश्वर के साथ जिनका ऐसा योग है वे ही धन्य हैं। जिनका स्वभावतः परब्रह्म के साथ मनोयोग होता है, उनको किसी प्रकार का आसन-अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं। वह अङ्ग को चाहे जैसे रख कर भी समाधिस्थ हो जाते हैं, यही उनका योगासन है।

आत्म-ज्ञान के कारण जो योग होता है वह कैवल्य का कारण है। आजकल बहुत से लोग योगी नामसे प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे वास्तविक योगी नहीं हैं। वास्तविक योगी को अतुल ऐश्वर्य और अनुपम विभूति प्राप्त होती है। उन्हें श्वास आदि कोई भी रोग नहीं होता। अग्नि में प्रवेश करने पर भी अद्भुत संयम के बल से, अग्नि उन्हें नहीं जलाती, जलमें प्रवेश करने पर जल उन्हें नहीं डुबाता, तीखे काँटों के ऊपर चलने पर भी उनके पैर में काँटे नहीं गड़ते। संयम के प्रभाव से अस्त्र प्रहार होने पर भी वे घायल नहीं होते। योगी निर्भय होते हैं, योगी जीवन्मुक्त होते हैं। क्या किसी योगी के साथ किसी साधारण जीव की तुलना हो सकती है? योगी की शक्ति आश्चर्यजनक होती है।

दिव्य कर्मयोग के बिना दिव्य ज्ञानयोग, दिव्य भक्तियोग और दिव्य प्रेमयोग प्राप्त नहीं होता।

कलियुग में भक्तियोग में शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

स्नान करने से जिस प्रकार शरीर सर्वदा शीतल नहीं रहता, उसी प्रकार भक्तिमान् जीवात्मा भी सर्वदा तन्मय होकर नहीं रहता।

मन का संयम करने से मन स्थिर होता है। मन के स्थिर होने पर इष्ट में मनोयोग होता है।

जिस प्रकार पातंजल योग दर्शन में किसी विशेष आसन का निर्देश नहीं है, उसी प्रकार गीता में भी किसी विशेष आसन का नाम और निर्देश नहीं है केवल रीढ़ की हड्डी को सीधा करके बैठने की आवश्यकता है। इन दोनों प्रसिद्ध योग-शास्त्रों से मालूम होता है कि किसी निर्दिष्ट आसन के बिना भी योग का अनुष्ठान हो सकता है।

सब प्रकार का सोना, बैठना और खड़ा होना एक-एक प्रकार का आसन है।

आसन का अभ्यास अत्यन्त निर्जन स्थान में करना चाहिए।

वास्तविक योगी के उपदेशानुसार प्राणायाम का अभ्यास करने पर किसी प्रकार का भयंकर रोग नहीं होता, उसके द्वारा उन्नति ही होती है, बल्कि उसके द्वारा योगी होने में विशेष सहायता मिलती है।

निःश्वास-प्रश्वास के साथ-साथ जीव का स्वभावतः ही सर्वदा रेचक पूरक होता रहता है। परन्तु योगाभ्यास के समय इस साधारण नियम का उल्लंघन करके योगशास्त्र के नियमों का अवलम्बन करना चाहिए।

कुम्भक स्वाभाविक नहीं होता। योगियों को उसका अभ्यास करना पड़ता है। योग-दर्शन की पद्धति के अनुसार नासिका-रन्ध्र द्वारा शरीर के अन्दर वायु भरने का नाम पूरक है। शरीर के भीतर की वायु के रेचन अर्थात् निकालने का नाम रेचक है। शरीर के अन्दर वायु रोककर धारण करने का नाम कुम्भक है। कुम्भक में शरीर के अंदर वायु रोक देने पर श्वास-प्रश्वास भी बंद हो जाता है। रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायाम के प्रधान तीन अङ्ग हैं। प्राणायाम के साथ-साथ ध्यान किया जाता है। प्रगाढ़ भगवद्-चिंतन को ध्यान कहते हैं।

ध्यान दो प्रकार का है—साकार का ध्यान और निराकार का ध्यान। साकार के रूप का और निराकार के स्वरूप और गुण का ध्यान किया जाता है।

साधनात्मक ध्यानानन्द के परे स्वाभाविक ध्यानानन्द है और उसके बाद स्वाभाविक योगानंद है। वह योगानंद किसी-किसी योगी को समय विशेष पर प्राप्त होता है और किसी-किसी को स्वाभाविक तौर पर नित्य सुलभ होता ही है।

राजयोग प्राणायाम है। प्राणायाम के अन्तर्गत रेचक, पूरक और कुम्भक हैं। इन तीनों की साधना उत्तम रूप से पूरी हो जाने पर त्राटक की आवश्यकता है।

त्राटक का अभ्यास करने के लिए सबसे पहले कुछ समय तक दीप-शिखा की ओर एकटक देखना चाहिए। इस प्रकार साधन करने से क्रमशः जब दृष्टि स्थिर होने लगे, तब एकाग्रता के साथ नासापुट को देखना चाहिए। जब नासापुट पर अनायास दृष्टि स्थिर होने लगे तब भ्रू-मध्य में दृष्टि जमानी चाहिए। भ्रू-मध्य को देखते-देखते दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है। दिव्य-दृष्टि के फलस्वरूप नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। चाक्षुषी ज्योति बढ़ने पर कुछ भी अदृश्य नहीं रह जाता।

अच्छी तरह त्राटक का अभ्यास हो जाने पर पहले आँखें बंद करके ध्यानाभ्यास करना चाहिए। वह अभ्यास हो जाने पर फिर खुली आँखों से ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार ध्यान की साधना करने पर ध्यान सिद्धि

प्राप्त होती है। इसी सिद्धि का दूसरा नाम ध्यान योग है। जैसे धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्यान्य ग्रन्थों का अध्ययन करके विद्वान हो सकते हैं। फिर पीछे उस उपार्जित विद्याके द्वारा कितनी ही धर्म संबधी पुस्तकों की रचना की जा सकती है। वैसे ही किसी जड़-मूर्ति या किसी कल्पित-मूर्ति का ध्यान करते-करते ध्यान सिद्ध हो जाने पर उसके द्वारा सच्चिदानंद का भी ध्यान हो सकता है।

यदि किसी का पुत्र विदेश में हो और बहुत दिनों से उसका समाचार न मिला हो तो उसको स्वभावतः ही चिन्ता होती है। अभ्यास करके वह चिन्ता नहीं की जाती। उसी तरह भगवान् के प्रति प्रेम होने पर उनके विरह में स्वभावतः ही चिन्ता उत्पन्न होती है। वह चिन्ता साधनात्मिका नहीं होती। उस चिन्ता को ही ध्यान कहा जा सकता है।

पहले चित्त की शुद्धि हुए बिना, चित्त निर्विकार हुए बिना समाधि नहीं हो सकती।

मन स्थिर होने पर एकाग्रता होती है। एकाग्रता होने पर समाधि होती है। सवि-कल्प समाधि में केवल कण्ठ-श्वास और नाभि-श्वास रहता है। सविकल्प समाधि में स्थित पुरुष की नाड़ी मुमूर्षु व्यक्ति की नाड़ी के सदृश हो जाती है। इस समाधि अवस्था में शरीर के जलने अथवा अन्य प्रकार के विशेष कष्ट पहुँचने पर अंतःकरण में उसका बोध होता है।

खिलौने का हाथी नाम से और बनावट से हाथी होता है, परंतु वास्तविक हाथी नहीं होता। उसी प्रकार निद्रा ही योग निद्रा नहीं है, दोनों में बहुत बड़ा भेद है।

समाधि अवस्था का एक योग निद्रा है। चक्षु स्थिर का अभ्यास करने पर चक्षु स्थिर होता है। मरने पर चक्षु स्थिर होता है, परंतु अभ्यास करके क्या मरा जाता है? अथवा मरने पर जो चक्षु स्थिर होता है वह क्या चक्षु का स्थिर होना है? अभ्यास करने पर समाधि होती है। समाधि तो मृत्यु के समान स्वाभाविक है। नींद क्या अभ्यास की चीज है? वह तो स्वभावतः होती है। योग-निद्रा भी स्वभावतः होती है।

जो योगी पूर्ण रूप से चैतन्यहीन हो जाता है, जिस योगी को इतना भी बोध नहीं रहता कि 'मैं हूँ', वही योगी योग-निद्रित है। उस योगी में सब गुण और क्रिया-शक्ति वर्तमान रहने पर भी वह पूर्ण रूप से निर्गुण और निष्क्रिय है।

निद्रावस्था में 'मैं हूँ' इसका बोध न रहने पर भी 'मैं' रहता है। मृत्यु होने पर भी 'मैं हूँ' इसका बोध न रहने पर 'मैं' रहता है। परन्तु योग-निद्रा में 'मैं' नहीं रहता। योग-निद्रा भग होने पर 'मैं हूँ' ऐसा बोध होता है।

चाहने पर जिस तरह नींद नहीं आ जाती उसी तरह चाहते ही समाधि नहीं लग जाती, निद्रा अभ्यास से नहीं होती। आँख बन्द करलेने से ही निद्रावस्था की प्राप्ति नहीं होती। इसी तरह किसी प्रकार का आसन लगाकर आँख बन्द कर लेने से समाधिस्थ नहीं हुआ जाता।

समाधिस्थ पुरुष मृत व्यक्ति की तरह सुस्थिर, जड़ की तरह अचल होता है।

समाधि में ब्रह्म के साथ मनोयोग होने पर श्वास-प्रश्वास तक बंद हो जाता है। उस समय रेचक, पूरक दोनों नहीं होते। इस प्रकार की समाधि के जीवनमें योगी की एक प्रकार से मृत्यु हो जाती है और ब्रह्म में उसके

मन का वियोग होने पर पुनः श्वास-प्रश्वास चलने लगता है, पुनः रेचक-पूरक होने लगता है। इस प्रकार की समाधि की स्थिति गुरु-कृपा का एक आश्चर्यजनक प्रमाण है।

बधिर तो बहुत से लोग होते हैं, किन्तु दिव्य बधिर कितने लोग हो सकते हैं? इसी तरह दिव्य अंधे भी कितने लोग हो सकते हैं? समाधिस्थ पुरुष के अतिरिक्त दिव्य बधिर और दिव्य अंध दूसरा कोई नहीं है। लकवा मार जाने पर किसी-किसी मनुष्य का शरीर सुन्न हो जाता है। इसी तरह समाधिस्थ पुरुष का शरीर सुन्न और अवश हो जाता है। उनके इस प्रकार के शरीर को कोई स्पर्श करे तो उन्हें उस स्पर्श का बोध नहीं होता। उनको शरीरकी इस अवस्था के कारण किसी प्रकार के कष्ट का भी अनुभव नहीं होता। वह इस अवस्था में सुख-दुःख आदि सब अवस्थाओं से अतीत हो जाते हैं।

समाधिस्थ होने पर समस्त इन्द्रियों की शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। वह पुरुष उस अवस्था में निश्चल और निष्क्रिय हो जाता है, जीवन्मुक्त हो जाता है। जिनको निर्विकल्प समाधि होती है, उनके लिए आहार के विषय में कोई विधि निषेध नहीं रहता। उनको किसी प्रकार का आसन और मुद्रा नहीं करनी पड़ती। वह प्राणायाम अथवा ध्यान भी नहीं करते, वह सदानन्द, जीवन्मुक्त पुरुष है।

निर्विकल्प समाधि होने पर कण्ठ-श्वास और नाभि-श्वास तक बंद हो जाता है। यहाँ तक कि उस अवस्था में हाथ की नाड़ी भी स्थिर हो जाती है। मृत व्यक्ति के शरीर की तरह सब अंग ठंडे हो जाते हैं। उसी अवस्था को वास्तविक विदेह कैवल्यावस्था कहा जाता है। यह अवस्था जिनकी जब होती है उस समय देहस्थ होने पर भी देहस्थ नहीं है। उस अवस्था में देह में रहने पर भी देह के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उस आवरण में उनकी देह जला देने पर अथवा टुकड़े-टुकड़े करने पर भी उनको कोई कष्ट मालूम नहीं होता।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्म दर्शनम् ।

मानव मात्र का परम धर्म यही है कि योग साधन से आत्म दर्शन करें। परम कठिन योग साधन का अनुष्ठान करना तथा सिद्धियों के मोह से अपने आपको बचा कर, अन्तिम सफलता प्राप्त करना बड़ा ही दुस्तर है।

हमारा एकमात्र सहारा गुरुकृपा तथा भगवत् शरणागति है। परमात्मा कहीं दूर तो नहीं है। हमारे हृदय मन्दिर में ही विराजते हैं। सरल चित्त से उन्हें पुकारो। उन्हीं के बताये पथ में चलो। उनकी आज्ञा है कि "मन और इन्द्रियों का संयम करो। आत्म तत्त्व एक ही है—ऐसी समबुद्धि धरो। भूत मात्र के हित-साधन में प्रयत्नशील रहो, और निश्चय रखो, तुम मुझे ही प्राप्त होगे।" यही एक योगी का सच्चा कल्याणकारी योग है।

इस विषय में अपनी तरफ से कुछ भी लिखने की सामर्थ्य मुझ जैसे तुच्छ व्यक्ति में कहाँ? मैंने तो परम पूज्य सद्गुरुदेव जी की आज्ञानुसार स्वाध्याय के आधार पर अपनी साधारण बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिखा है, पाठकगण उसे पढ़कर मेरी त्रुटियों के लिए क्षमा करेंगे ही।

आवेश-तत्व और * * * * * * लोक-कल्याण

● श्री डॉ० विजय सिंह

भगवान पतञ्जलिजी ने "वीतराग विषयं वा चित्तम्" कह करके समाधि पाने का एक सहज उपाय बताया है। वीतरागी भगवान् शिव, आद्या परम योगिनी शक्ति दुर्गा, श्रीराम श्रीकृष्ण तथा तमाम साधना-सिद्ध वीतराग महापुरुषों में से साधक अपने निष्ठा के अनुसार किसीको अपने ध्येय व आराधना के हेतु चुनकर अपने मन, चित्त, बुद्धि व अहंकार को उनके विराट मन, चित्त, बुद्धि व अहंकार में शनैः-शनैः विलय कर दे तो साधक के मन में अपने आराध्य की शक्ति व प्रकृति का आवेश स्थायित्व को प्राप्त हो जाता है। उन महापुरुषों की स्वाभाविक समाधि प्रधान अन्तःकरण साधक को सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

निगम शास्त्रों में संवित् स्वरूप महाशक्ति कुण्डलिनी के जागरण तथा विशेष-विशेष शरीर की सूक्ष्म नाड़ियों में उसकी शक्ति के प्रसार से भी भिन्न-भिन्न प्रकार के आवेशों के उदय की बात बताई गई है। अन्तःकरणों और बहिकरणों में उदित महाशक्ति अनन्त धाराओं वाली है, जिसे "शक्ति-चक्र" नाम दिया गया है। यह शक्ति-चक्र विभव से परिपूर्ण है।

साधारण प्राणी अपने सामर्थ्यानुसार ही कार्य कर सकता है, क्योंकि उसमें अंशतः कुछ ही शक्ति विद्यमान हुआ करती है, परन्तु स्पन्दनात्मक उन्मेष के स्पर्श करते ही वही साधारण व्यक्ति अपने क्षुद्र निजत्व से मुक्त होकर दुर्धर्ष कार्यों को करने वाला बन जाता है। यह अवस्था बिना तीव्र संवेगात्मक साधना के स्थायित्व के प्राप्त नहीं होती। अतः सामान्यतः थोड़े समय के लिए प्राप्त विमर्शात्मक अन्तःकरण से तथा बहिकरण से अमानुषी कार्य सम्पादित होते देखा जाता है। निर्मल हृदय वाले साधकों के अंतःकरण एवं बहिकरण को माध्यम बनाकर उच्च देवात्मक सिद्धों से सम्बन्धित प्रेरणात्मक आवेश से लोगों में शक्ति-संचार, वरदान, प्रधानत्व जैसे कार्यों को करने की सद्-प्रेरणा प्राप्त होते देखा गया है।

यह निश्चित है कि विशुद्ध आवेशात्मक दशा में साधक अपने निज अस्तित्व को पूरी तरह विस्मृत कर जाता है। आवेश समाप्त होने पर किसी-किसी को यह याद भी नहीं रहता कि अभी कुछ देर पूर्व हमारे शरीर को माध्यम बनाकर कैसे अद्भुत व्यापार का संचार हुआ है।

गौरांग महाप्रभु चैतन्य को प्रारम्भिक साधना में नरसिंह भगवान्, विष्णु भगवान् आदि के प्रबल आवेश सतसंग (नाम ध्वनि) करते समय होता था। उस समय सिंहासन विग्रहों को एक ओर हटाकर विराजमान हो जाते थे तथा भयंकर नाद, चिंघाड़ अथवा

सम्पूर्ण स्थल अलौकिक बन जाया करता था। उन्हें ऐसी अवस्था में अपने निजत्व का रंच मात्र भी ध्यान नहीं रहा करता था। उस आवेशावस्था में वे अपने पूज्य जनों को भी आशीर्वाद तथा अपनी सेवा में प्रयुक्त कर लेते थे। आवेश कभी-कभी घण्टों और दिनों तक स्थायी रह जाया करता था। आवेश समाप्त होने पर वे मूर्च्छित हो जाया करते थे। मूर्च्छा को तोड़ने के लिए सत्संगी लोग उनके कान के पास जोर-जोर से "हरि बोल, हरि बोल" की ध्वनि लगाते थे, तब कहीं जाकर वे प्रकृतस्थ होते थे। प्रकृतस्थ भाव में जब उनके अद्भुत आवेश भाव का लोग वर्णन, करते तो वे कहते थे, मुझे तो कुछ भी याद नहीं है।

सत्व के विकास हो जाने पर भाव प्रधान लोगों में भिन्न-भिन्न प्रकार के भावावेशों की घटनायें घटित होती हैं। आवेश के प्रभाव में वे घंटों व दिनों उन्मत्त होकर नृत्य करते रहते हैं। लोक-लाज से परे जोर-जोर से हँसना, रोना, कम्प आदि क्रियायें सतत् होती रहती हैं। ऐसे लोगों के शरीर पर क्या व्यतीत हो रहा है, इसका भान उन्हें नहीं रहा करता।

ज्ञानस्वरूप श्री गुरुदेव भगवान् के कृपापात्र साधकों में भी दिव्योन्माद, आवेश आदि की घटनायें घटित होती रहती हैं, परन्तु आवेश सरल हृदय लोगों में ही प्राधान्यतया घटित होता है। जो तर्कशील, शंकालु प्रकृति के लोग हैं, उनमें ऐसे आवेशको घटित होते नहीं देखा गया है। कुछ ऐसी ही दिव्य घटनाओं का वर्णन यहाँ हम करते हैं।

इलाहाबाद में कुछ वर्षों पूर्व एक बालक को श्री प्रभुजी के आवेश होते थे। उनके पिता श्री से हमने सुना था कि आवेशावस्था में जो कुछ भी वह बालक कहता वह ज्यों का त्यों घटित होता था। आवेशावस्था में श्रीप्रभु जी की तरह अपने माता-पिता को लल्ला ! लल्ली अथवा नाम लेकर बुलाया करता था। उनके पिता श्री लौकिक-आध्यात्मिक अनेक प्रश्न उससे उस अवस्था में करते और वह बालक दिव्यावेश में सारी शंकाओं का निवारण सहज ही कर लिया करता था। उम्र बढ़ने पर आवेश की घटना कम होती गई। अब वह बालक बड़ा हो चुका है, उसे उन सब बातों का विस्मरण हो गया है। परन्तु उस आवेशाभाव में दिये गये लोक-मंगल के हेतु प्रसाद व वरदान (उस बालक द्वारा जिसे भी दिया गया वह ज्यों का त्यों घटित हुआ।

कानपुर के आदरणीय भाई सुरेशचन्द्र शर्माजी ने अपनी एक भृत्या, जिसकी आनंद-कन्द श्रीप्रभुजी में प्रगाढ़ निष्ठा हो चली थी, उसे लगभग ६ माह तक नित्य भावावेश श्री महाप्रभुजी के होते रहे जिन्हें सवाई धाम में स्वयं सब पर प्रकाशित किया। वह आवेशावस्था में लोगों को पुष्प-प्रसाद ध्यान अथवा लोक-कल्याण के लिए दिया करती थी। उस अवस्था में वह नौकरानी भूल जाती थी, अपने अस्तित्व को। शर्मा जी का एक धोबी था। वह शराबी तथा पर-स्त्रीगामी व अपनी स्त्री को मारता-पीटता रहता था। उसकी पत्नी एक दिन रोती हुई इनके बंगले पर आई, उस समय उस नौकरानी पर आवेश विद्यमान था। अतः धोबिन के कष्ट-निवृत्ति हेतु शर्माजी ने उस धोबिन से कहा कि तुम श्री प्रभुजी से निवेदन करो। आवेश भावापन्न उस नौकरानी ने फूल का उसे प्रसाद देते हुए कहा कि अपने पति को यहाँ भेजो। शर्मा जी के बुलवाने पर वह धोबी आया। आवेश-

मूक नौकरानी ने (जिसकी आवाज, भाषा आवेशावस्था में बदल जाया करती थी) डांटते हुए उससे कहा—क्यों ! तू क्यों अपनी पत्नी को कष्ट देता है ? स्वभावतः झूठ बोलने वाला वह धोबी ढिठाईपूर्वक बोला कि हम ऐसा कुछ नहीं करते हैं। आवेशभाव में वह बोली-तुम हमसे झूठ बोलते हो, बताओ तो कल अमुक-अमुक जगह तुमने अमुक-अमुक के साथ शराब पी थी या नहीं। ऐसेही तमाम उसके आन्तरिक रहस्य को प्रकट कर दिया। वह धोबी भौचक्का रह गया। शरणागत भाव से उसने अपने दुराचरण को स्वीकार ही नहीं किया, बल्कि भविष्य में उसने अपना सुधार कर लिया। उसके जीवन में परिवर्तन आ गया। ऐसे ही तमाम कष्ट-निवारण की घटनायें नित्य ही शर्माजी के यहाँ घटित होती रहती थीं। एक बार कश्मीर के भ्रमण काल में ग्लेशियर के गर्त में शर्माजी गिर पड़े थे और जिस समय वे गर्त में समाते जा रहे थे, उसी पल अचानक किसी सत्ता ने उन्हें ऊपर की ओर फेंक दिया, जिससे उनकी प्राण-रक्षा हुई थी। इस घटना को केवल वे ही पूरी तरह से जानते थे। एक दिन आवेश भाव में वह बोली—लल्ला ! काश्मीर में हमने ही तुम्हारी प्राण-रक्षा की थी, जिस समय तुम बर्फ के गर्त में नीचे जा रहे थे, हमने ही अपने हाथों से तुम्हें ऊपर फेंका था। शर्माजी ने एक अत्यन्त विलक्षण घटना का जिक्र किया था। शिवरात्रि के पर्व पर नेपाल राज्य की राजधानी काठमाण्डू में भगवान् पशुपति नाथ का विधिवत् रुद्राभिषेक किया था। उस अभिषेक काल में कुछ विशिष्ट लोग ही साथ में थे। पूजा करते एक अत्यन्त वृद्ध महात्मा न जाने कब आकर शर्माजी तथा उनकी पत्नी विमलाजी के पीछे बैठ गये थे। दुग्ध-स्नान कराते समय वे महात्मा विशेष विनोद मुद्रा के साथ शर्मा जी को तथा विमला बहन को अपने कर से स्पर्श किया था। उस समय उन लोगोंको यह बात अच्छी नहीं लगी थी। यह घटना उन्हें पूर्णरूपेण विस्मृत हो चुकी थी। एक दिन आवेशाभाव में महिला बोली—लल्ला ! हम भी हर समय तुम्हारे साथ रहते हैं, तुम हमें नहीं पहचान पाते हो। पशुपतिनाथ में रुद्राभिषेक के समय हमने ही तुम दोनों को कोहनी से धक्का दिया था। श्री प्रभुजी के करुणापूर्वक इस कथन से गुरु-भक्त दम्पत्ति भाव-विभोर हो गये थे। सच कहा गया है—"हरि अनन्त, हरि कथा अनन्ता।" श्रीप्रभु जी की कृपा वर्णनातीत है। ●

नम्रता

विद्या प्राप्ति से मनुष्य के मन में किसी भी प्रकार का अहंकार नहीं आना चाहिए। विनम्रता ही अभिमान के दमन में सहायक हो सकती है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने विद्यार्जन का सर्वश्रेष्ठ फल 'विनय' को ही बताया है, जो 'विद्या ददाति विनयम्'—सूक्ति से विदित होता है। गुरु नानकदेव भी 'हउमै' (अहंमन्यता) का नाश करने के लिए अपने सिक्खों (शिक्षार्थियों) को समझाते हैं-भले ही महीनों पढ़ो अथवा वर्षों तक। चाहे पढ़ते-पढ़ते सारी आयु बीत जाय, किन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है कि अभिमान आ जाने पर सारा ज्ञानार्जन केवल 'अक्ल मारना' कहलाने लगता है। —गुरु नानक

प्रभोः श्री रामलालस्य

श्लोक शतकैरर्चनम्

वंदनं च

रचनाकार—श्री द्वारकाप्रसाद शर्मा, लखनऊ

अनन्त श्री विभूषितस्य, सिद्धेश्वरस्य महाप्रभोः श्री रामलालस्य
धराधाम्नि लोककल्याणहेतवे समागतस्य शतवर्षं यावत्
पूर्णावसरे श्लोक शतकैरर्चनम् ।

पूर्व प्रकाशित से आगे

एकां कथां कथयितुं पुनरेव चेष्टे,
या च श्रुता गुरुवरेण महोदयेन ।
आसीद् जनो विश्रुत नाम पश्चात्,
'हरिहरानन्दन' एव तस्मात् ॥३३

एक और कथा बताने की पुनः चेष्टा कर रहा हूं जो गुरुदेवजी से मैंने सुनी है। महाप्रभुजी के सम्पर्क में एक व्यक्ति आये थे जो बाद में 'हरिहरानन्द' इस नाम से विख्यात हुए।

महाप्रभुः प्राविशदेकदा स्थले,
बलिया प्रदेशस्य च ग्राम्यमेके ।
तत्रावसत् बालको विप्र कुलजः,
योऽभूत प्रसिद्धः प्रभुणा प्रसादतः ॥३४

महाप्रभुजी एक बार बलिया प्रदेश के एक गाँव में प्रविष्ट हुए। वहाँ एक विप्र-कुल में जन्मे बालक थे, जो महाप्रभुजी की कृपा-प्रसाद से बादमें प्रसिद्ध हो गये।

तस्मिन् प्रदेशे प्रभुरेकदा भ्रमन्
जगाम एकस्य गृहस्य निकटे ।
कोलाहलं, पुरुषवाक् कलहं च श्रुत्वा
पप्रच्छ भगवानभवत् किमत्र ? ॥३५

महाप्रभुजी वहाँ भ्रमण करते हुए एक बार एक घर के निकट पहुँचे तो वहाँ कोलाहल, लड़ाई-झगड़ा व कठोर वचनों को सुन कर महाप्रभुजी ने पूछा, यहाँ क्या हो गया है।

नारीं तु धिक्कार युतैस्तु वाक्यैः,
विप्रात्मजः कथयति स्म नैकवारम् ।
त्वामद्य त्यक्षामि च नैव जीविताम्,
इत्थं ममार बहुशो विविधैः प्रकारैः ॥३६

उस समय वह ब्राह्मण बालक धिक्कार भरे वाक्यों द्वारा बार-बार एक नारीको बुरा-भला कह रहा था। आज मैं तुमको जीवित नहीं छोड़ूंगा। इस प्रकार कहता हुआ उसे अनेक प्रकार से प्रताड़ित कर रहा था।

महाप्रभुः कारुणिकां सदीयां,
दशां विलोक्याथ बभाष तं बटुम् ।
केनापराधेन करोषि वत्स,
अघन्य कृत्यमबलां प्रति त्वम् ॥३७

महाप्रभु ने उस समय उस नारी की करुण स्थिति देखते हुए उस ब्राह्मण बालकसे कहा-हे वत्स ! किस अपराधके लिए तुम इस नारी के प्रति नृशंस अत्याचार कर रहे हो ?

विप्रात्मजः साधुवरं सुवीक्ष्य,
बभाष वाक्यं समयानुसारि ।
नैषास्ति नारी, कुलटास्ति श्रीमन्,
वधाय योग्या प्रवदामि सत्यम् ॥३८

उस ब्राह्मण बालक ने साधुश्रेष्ठ को देख समयानुकूल ये वचन कहे—श्रीमन् ! यह नारी नहीं यह कुलटा है और मैं सत्य कहता हूँ कि यह वध कर देने योग्य ही है ।

एषा हि कुलटा गृहतो वधूश्च,
अन्याश्च नार्यः प्रददाति तांस्तान् ।
ये सन्ति धनिका अति कामुकाश्च,
इत्थं धनं च लभते निजपोषणाय ॥३९

यह ऐसी कुलटा है जो घर-घर से घर की बहुओं तथा अन्य स्त्रियों को अत्यन्त कामुक व धनी लोगोंको उनके काम-वासना की पूर्ति हेतु पहुँचाया करती है । इस प्रकार धन प्राप्त कर वह अपना भरण-पोषण करती है ।

वचस्तु तस्येदम थापरञ्च,
जहास श्रुत्वा प्रभुरन्तरज्ञः ।
विप्रात्मजं तं समुवाच वत्स,
आगच्छ, आगच्छ शृणुष्व तावत् ॥४०

अन्तर्यामी तथा घट-घटवासी प्रभु उस बालक की तथा अन्य व्यक्तियों की बातों को सुनकर हँस दिये । उस ब्राह्मण बटु से कहने लगे-हे वत्स ! आओ, आओ मेरी बात सुनो ।

महाप्रभुस्तमब्रवीत् वत्स,
त्वं ब्राह्मणोऽसीति विवेकशील: ।
जानासि किं किं करणीयमस्ति,
विप्राय तुभ्यं निजवर्ण योग्यः ॥४१

महाप्रभु ने उस बालक को कहा—हे वत्स ! तुम ब्राह्मण हो, विवेकवान् हो । क्या तुम यह भी जानते हो कि एक विप्रकुलोचित क्या-क्या तुम्हें करना चाहिए ?

नो दानग्रहणाय हि विप्रजन्म,
दानं प्रदानमपि वाञ्छनीयम् ।
दानं विना जन्म वृथैव मन्ये,
किमुद्यतस्त्वं करणाय दानम् ॥४२

केवल दान ग्रहण करने के लिए ही विप्र का जन्म नहीं हुआ करता, दान देना भी आवश्यक होता है । दान के बिना तो मैं इस जन्म को व्यर्थ ही मानता हूँ । क्या तुम दान करने के लिए तैयार हो ?

एतच्छ्रुत्वा वचनं दयालो,
विप्रोऽवदत् हर्षितः सन् प्रभुं तम् ।
आज्ञापय किं करणीयमस्ति,
दास्ये प्रभो ! मामकीनं तु यत् यत् ॥४३

दयालु के ऐसे वचन को सुनकर, हर्षित होकर विप्र बालक ने प्रभु से यह कहा—प्रभो ! आप मुझे आज्ञा दीजिये कि क्या करना है ? मेरा जो कुछ भी है वह मैं आपको दे दूँगा ।

महाप्रभुस्तं पुनरब्रवीत्,
याचे न त्वत्तो मे हि किञ्चिदन्यत् ।
याचे त्वदीयं शिर एव नान्यत्,
ददस्व दातुं यदि त्वं समुद्यतः ॥४४

महाप्रभु ने उस बालक से कहा—मैं तुमसे कुछ और नहीं माँगता, मैं तो केवल तेरा सिर ही चाहता हूँ और कुछ नहीं। बोलो, क्या तुम देने को तैयार हो ?

विप्रात्मजोऽप्यवोचत् हर्षयुक्तः,
शिरोऽपि दातुं प्रतिबद्ध वचनः।
द्वि-त्रीणि दिवसानि प्रभो न याचे,
सुनिश्चितं वच्मि शिरः प्रदास्ये ॥४५

ब्राह्मण बालक ने हर्षित होकर कहा—मैं सिर देने के लिए भी प्रतिज्ञा कर रहा हूँ। मैं केवल दो या तीन दिन का समय आपसे चाहता हूँ और मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि मैं अपना सिर आपको दूँगा।

धन्यः प्रभुर्विप्रवरोऽपि धन्यः,
द्वौ नैव जानन्ति परस्परं तु।
तथापि तौ स्तः उभयौ समर्पितौ,
यथा विजानन्ति परस्परं तौ ॥४६

प्रभुजी भी धन्य हैं और वह ब्राह्मण बालक भी। दोनों परस्पर एक-दूसरे को नहीं जानते हैं तो भी वे दोनों इस प्रकार व्यवहार कर रहे हैं जैसे एक-दूसरे को जानते हैं और वे दोनों एक-दूसरे के प्रति समर्पित भाव लिये हुए हैं।

मध्यान्तरे विप्रवरेण यत्कृतं,
शृणुष्व तत्सर्वमिदं ब्रवीमि।
सम्पद् यदासीद् चल एव वा,
सर्वं ददौ दानरूपे जनेभ्यः ॥४७

इसी बीच विप्रवर ने जो कुछ किया उसे सुनिये, वह सब मैं बतला रहा हूँ। उसके पास जो कुछ भी चल और अचल सम्पत्ति के रूप में था, वह सब उसने लोगों को दान रूप दे डाला।

इत्थं यदा दानमकारि सर्वं,
निर्द्वन्द्व एवं स्वयमेव केवलम्।
आगत्य तावत् प्रभुवर्य पार्श्वे,
दीनं वचो विप्रवरोऽब्रवीत् ॥४८

इस प्रकार जब उस ब्राह्मण बालक ने अपना सर्वस्व दान कर दिया और जब वह केवल स्वयं निर्द्वन्द्व रह गया तब वह प्रभुजी के निकट पार्श्व में आकर इस प्रकार दीन वचन कहने लगा।

प्रभो ! वचः स्वं परिरक्षणाय,
दानाय शिरसः भवदन्तिकेऽहम्।
निर्वृत्य सकलेरपरैस्तु कार्यैः,
करुणानिधे अहं स्वयमागतोऽस्मि ॥४९

हे प्रभो ! अपने वचन को पूरा करने के लिए, अपना सिर दान रूप में आपको समर्पित करने के लिए, अन्य समस्त कार्यों से निवृत्त होकर हे करुणानिधान ! मैं स्वयं आ गया हूँ।

विप्रस्य हस्ते खड्गं निरीक्ष्य,
प्रभुर्विस्मय प्राप्तवान् तत्क्षणं तु।
तदाऽऽत्मानं स्वस्थं प्रभुर्विधाय,
विप्रात्मजं वक्तुमिदं समुद्यतः ॥५०

ब्राह्मण बालक के हाथ में खड्ग देखकर महाप्रभु उस समय तो विस्मित से हुए, उसके बाद स्वयं अपने को सँभालकर ब्राह्मण बालक से इस प्रकार कहने लगे।

इत्थं न लप्स्ये निजहस्ततोऽहं,
शिरस्तु छित्वा असि चालनेन।
हत्वा तु विप्रं कथमाप्नुयामहं,
दोषो महान् ब्रह्महत्यास्ति वत्स ॥५१

मैं इस प्रकार अपने हाथ से तलवार द्वारा तुम्हारा सिर नहीं लूँगा। भला मैं क्यों एक

विप्र की हत्या स्वयं कर ब्रह्म-हत्या के महान् दोष को अपने ऊपर लूँ।

तीरे तु नद्या प्रव्रजाव आवाम्,
तत्र स्वयं त्वं खड्गेन स्वेन।
शिरस्तु दद्याः स्वयमेव मां त्वम्,
तदा ग्रहीष्ये तु शिरस्तवाहम् ॥५२

आओ, हम दोनों एक नदी के तट पर चलते हैं। वहाँ तुम्हीं अपने हाथ से तलवार चलाना और अपना सिर काटकर मुझे जब इस प्रकार दोगे तो मैं उसे ले लूंगा।

महाप्रभुर्याति स्वयं समग्रे,
पश्चात्तु विप्रात्मजो याति साकम्।
असिः स्वहस्ते स दधाति वीरः,
तावागतौ वीरमलस्तु नद्याः ॥५३

महाप्रभुजी आगे-आगे और पीछे-पीछे उनके वो ब्राह्मण बालक चल रहा है। वह ब्राह्मण वीर बालक अपने हाथ में तलवार लिये हुए हुए है। इस प्रकार से दोनों एक नदी के तट पर आ गये।

तीरे तु सरितः प्रभुरादिदेश,
ददातु मे वत्स ! शिरस्तु साम्प्रतम्।
विप्रात्मजः खड्गमुत्थाय चोर्ध्वं,
छेत्तुं शिरः स्व प्रवृत्त यदानीम् ॥५४

उस नदी के तट पर पहुंचते ही महाप्रभु जी ने उस ब्राह्मण बालक से कहा—हे वत्स ! अब अपना सिर मुझे दे दो। ब्राह्मण बालक ने तभी उसी समय तलवार को ऊपर उठा कर अपना सिर काटने की तैयारी की।

करुणाकरः प्रभुवरः सहसैव खड्गम्,
विप्रस्य हस्तात् अपसार्य शीघ्रम्।
अभञ्जयत तं खड्गं द्वि भागे,
वचांसि विप्रं पुनराह इत्थम् ॥५५

उस समय करुणाधाम महाप्रभु ने सहसा ही ब्राह्मण बालकके हाथसे खड्ग दूर हटाकर अपने हाथ में लेकर उसके दो टुकड़े कर दिये और उस ब्राह्मण बालक से यों कहने लगे।

हे वत्स ! त्वं मेऽसि प्रियो हि शिष्यः,
त्वं मे कृपामाप्तुमतीव योग्यः।
महाप्रभुस्तं कृपया स्वकीयया,
अदात्तु सकलं कृपयैकलभ्याम् ॥५६

हे वत्स ! तुम मेरे प्रिय शिष्य हो। तुम मेरी कृपा पानेके अत्यन्त योग्य हो। महाप्रभु जी ने उस समय उस ब्राह्मण बालक को सब कुछ दे दिया जो मात्र कृपा के द्वारा ही पाया जा सकता है।

अभूत् स विप्र प्रथितेन नाम्ना,
हरिहरानन्द इति प्रकीर्त्या।
लोके तु येनैकविधा न नैव,
अनेकधा योगक्रियास्तु दर्शिताः ॥५७

वही ब्राह्मण बालक तब से 'हरिहरानन्द' इस नाम से जाना जाने लगा। उसने फिर इस जगतीतल पर अनेक प्रकार की योग-क्रियाओं को प्रदर्शित किया।

महाप्रभुस्तं कृपयाऽवलोकयत्,
सिद्धेषु सिद्धः स रराज लोके।
सदैव सः विद्यते लोकमध्ये,
समाधिमापन्न ह्यजरः शिवः ॥ ५८

महाप्रभु ने उसको कृपापूर्वक देखा। वह इस संसार में सिद्धों में सिद्ध प्रतिष्ठित हुए। वे इस लोक में सदैव विद्यमान रहते हैं। वे अजर-अमर व शिवरूप में प्रतिष्ठित हैं।

कथास्तु तस्य विविधाश्च सन्ति,
सख्या न गणने मतिमन्दतायाम्।
मया श्रुतास्तस्य कथा अनेका,
प्रभोर्मुखात्, तेन लिखामि साम्प्रतम् ॥५९

उन महाप्रभुजी की कृपायें तो विविध प्रकार की हैं, परन्तु मुझ मतिमन्द (मूर्ख) द्वारा वे कहाँ वर्णन की जा सकती हैं। यद्यपि मैंने प्रभुजी के मुखारविन्द से उनकी अन्य अनेक कथायें भी सुनी हैं, परन्तु वे मैं इस समय नहीं लिख रहा हूँ।

प्रभूणां विविधास्तु लीलाः,
कुतः कुतश्चापि जनेषु केषु।
वक्तुं समर्थो गुरुदेव केवलम्,
नाहं क्षमो लेखने ताः कदापि ॥६०

महाप्रभुजी की विविध लीलाओं को, वे कहाँ-कहाँ और किन-किन व्यक्तियों में चरितार्थ हुई हैं, बताने में हमारे समर्थ गुरुदेव ही सक्षम हैं। मैं तो उनको लिखने की भी शक्ति अथवा बुद्धि नहीं पाता अपने में।

बभूवुरन्येऽपि सहस्रशोऽपरे,
महाप्रभूणां चरणानुरक्ताः।
'गोपाल' नाम्नाभिहितोऽस्ति योऽसौ,
आनन्द सहितोऽपि रराज अत्र ॥६१

हजारों की संख्या में अन्य अनेक जन महाप्रभु के चरणारविन्दों में अनुरागी हुए हैं। उनमें से एक प्रसिद्ध नाम 'गोपालानन्द' हुए हैं।

महाप्रभुस्तस्य कृते विचित्रा,
लीला अकार्षीद निजयोगमायया।
कृपास्तु तस्मिन् प्रचुराः कृताः स्म,
याभिः स लेभे परमोत्तमां गतिम् ॥६२

महाप्रभुजी ने उनके निमित्त अपनी योगमाया से विचित्र-विचित्र लीलायें कीं। उन पर महाप्रभुजी की अत्यन्त भारी कृपा रही, जिससे उन्होंने परमोत्तम गति प्राप्त की थी।

अस्मद्गुरूणां समकालिको यः,
ध्याने स्थितो योग परायणः स।
काय प्रवेशेऽपि सुविचक्षण सः
विलक्षणो योगिवरोऽप्यजायत ॥६३

हमारे आराध्य गुरुदेव के वे समकालिक रहे हैं। वे उच्च ध्यान में स्थिति रखते हुए योग-परायण हुए हैं। वे परकाय प्रवेश की क्षमता रखने वाले एक विलक्षण योगिश्रेष्ठ हुए हैं।

प्रायोऽस्मदीयः प्रभुचन्द्रमोहनः,
व्याख्यान काले वचनामृते च।
प्रशंसते तस्य महत्तमां स्थितिं,
पुण्येन केनापि भवेत् तावत् ॥६४

हमारे गुरुदेव (श्री चन्द्रमोहनजी महाराज) प्रायः अपने व्याख्यानों में अपने वचन-सुधामृतों में उनकी उच्चतम स्थिति की प्रशंसा किया करते हैं और कहा करते हैं कि किसी पुण्य संयोग द्वारा ऐसी स्थिति हुआ करती है।

महाप्रभोश्चापि कृपा हि पावनी,
अभूत् तु तस्मै प्रचुरा च भूरि।
लब्ध्वा महानन्दमिहात्र सोऽयः,
वैकुण्ठमाप्नोत् वपुर्मोचनादनु ॥६५

महाप्रभुजी की भी उन पर अतीव पावन कृपा हुई थी। उन्होंने इस लोक में परमानन्द की स्थिति प्राप्त की तथा शरीर मोक्ष के पश्चात् वैकुण्ठधाम को वे प्राप्त हुए।

महाप्रभुस्तं वरदानमेकं,
मदात् कृपालुः कृपया तु वीक्ष्य।
त्वत्कीर्तनं ते प्रचरिष्यतीति,
तथैव तत्तत् सकलं तु जातम् ॥६६

कृपालु महाप्रभुजी ने उन्हें कृपापूर्वक देख एक वरदान दिया था। तुम्हारा बनाया य

नाम संकीर्तन खूब प्रचारित होगा और वह सब उसी प्रकार हुआ।

गोविन्द जय जय, गोपाल जय जय,
राधारमण हरि गोविन्द जय जय।
अतीव विख्यातम भूरिदं वचः,
गृहे गृहे कण्ठ गतं तथा तत् ॥६७

"गोविन्द जय-जय, गोपाल जय-जय। राधारमण हरि गोविन्द जय-जय॥" यह संकीर्तन के वचन घर-घर में प्रत्येक व्यक्ति के कण्ठ में गूंजे। यह महाप्रभुजी के वरदान का ही सुफल था।

प्रभोर्मुखात् ज्ञातमिदं मया तु,
हिमालयेऽनेक वरास्तु सिद्धाः।
वसन्ति येषां शतपञ्च षट् वा,
आयुश्च भवितेति सुनिश्चितम् तत् ॥६८

प्रभुदेव के मुखारविन्द से ही मुझे यह ज्ञात हुआ है कि हिमालय में अनेक सिद्ध श्रेष्ठ विराजमान हैं और यह सुनिश्चित है कि उनकी आयु पाँच-पाँच या छः-छः सौ वर्षों की होगी।

सिद्धाश्च ते योग परायणाः सदा,
योगेन प्रचुरामतुलां च शक्तिम्।
नमन्ति (दधन्ति) सर्वे च महाप्रभुं सदा,
ध्यायन्ति तं भक्तियुतेन चेतसा ॥६९

वे सिद्ध सदा योग-परायण रहा करते हैं। योग द्वारा वे अतुल शक्ति धारण करते हैं। वे भक्तिपूर्ण चित्त द्वारा महाप्रभु को नमन किया करते हैं।

एते तु सिद्धाः प्रथिताः समाधौ,
तिष्ठन्ति ध्याने त्रयमासतोऽधिकाः।
एषा स्थितिस्तत्र विराजतेतराम्,
सर्वेषु सिद्धेषु शृणुयाम एतत् ॥७०

वे ऐसे प्रसिद्धि प्राप्त सिद्ध हैं कि वे एक बार में तीन मास से भी अधिक तक समाधि में स्थित हो जाया करते हैं। सभी सिद्धों की प्रायः वहाँ ऐसी ही उच्चकोटि की स्थिति बनी रहती है, ऐसा प्रभुजी के मुखारविन्द से हम सुनते हैं।

× × ×

महाप्रभोस्तु चरित्राद्भुतं महत्,
वक्तुं समर्थोऽस्ति महत्तरो यः।
किं वा समर्थोऽस्ति तदेव वक्ता,
महाप्रभुं ये तु स्मरन्ति नित्यशः ॥७१

महाप्रभुजी के तो महान् एवं अद्भुत चरित्रों को वही बखान सकता है जो स्वयं महत्तर स्थिति की कोटि में हो अथवा वह वक्ता बखानने में समर्थ है जो उन्हें ही नित्य निरन्तर स्मरण करते रहते हैं।

× × ×

महाप्रभूणां परमं चरित्रं,
जानन्ति श्री श्री चरणास्तु सम्यक्।
तैरेव बहुधा वचनामृतेषु,
बोधायितं नः परमाद्भुतं यत् ॥७२

महाप्रभुजी के परम-पावन चरित्र को हमारे आराध्य श्री गुरुचरण ही भलीभाँति जानते हैं। उन्हीं ने अपने मुखारविन्द से बहुधा हमें उनके परम अद्भुत चरित्रों का बोध कराया है।

× × ×

महाप्रभुः स्व वपुषस्तु रोम्णो,
ससर्ज सृष्टिं विविधैः प्रकारैः।
स्त्रियः सुरम्याः पुरुषाश्च सुन्दराः,
वनानि नगराणि सुरम्यकाणि ॥७३

महाप्रभुजी ने अपने देहके रोमों से विविध प्रकार की सृष्टि की रचना तक कर डाली है। सुन्दर स्त्रियाँ, सुन्दर पुरुष तथा सुरम्य नये-नये नगर उनकी रोमावली से उद्भूत हुए हैं।

किं किं न शक्यं भवतीति तेभ्यः,
योगीश्वरेभ्यस्तु सदाशिवेभ्यः।
संकल्पमात्रेण भवन्ति येषां,
कार्यं समस्तं निमिषार्धमध्यम् ॥७४

योगी-श्रेष्ठों तथा सदाशिव रूप में प्रतिष्ठित योगसिद्धों के लिए क्या कुछ कर देना सम्भव नहीं है। जिनके संकल्प मात्र से एक निमिष से भी कम समय में समस्त कार्य सम्पन्न हो जाया करते हैं।

मेऽस्त्यस्ति मेधा न च काव्य कौशलम्,
शक्तिस्तु नो मे चरित्रा नु स्थापने।
तथापि चेष्टे प्रभुराज्ञयाऽहम्,
यथा तथा शब्द नियोजनेन ॥७५

मुझमें न मेधा ही है और न ही काव्य-कौशल। मुझमें उन महाप्रभुजी के चरित्रों का वर्णन करने की शक्ति व सामर्थ्य भी नहीं है। तो भी मैं प्रभुजी की आज्ञा से जैसे-तैसे शब्दयोजन की चेष्टा कर रहा हूं।

क्वाहं अविज्ञः क्व च भूत भावनः,
सदाशिवः क्व क्व च पाप भाजनः।
योगीश्वरः क्व क्व च योग शून्यः,
निष्किंचनः क्व त्रिभुवनेश्वरः क्व ॥७६

कहाँ मैं अविज्ञ और कहाँ वे भूत-भावन, सदाशिव कहाँ और कहाँ मैं पाप-भाजन, कहाँ वे योगीश्वर और कहाँ मैं योग-शून्य, कहाँ मैं निष्किंचन और कहाँ वे तीनों लोकों के स्वामी त्रिभुवनेश्वर !

क्षमां केवलं याचमानः सदाहं,
कुतो मे त्रुटि स्याद् भगवद् गुणेषु।
सदालेखने सत्कथने च वा पुनः,
स्यात्तां त्रुटिस्ता भवतात् हि क्षम्या ॥७७

मैं सदा केवल क्षमा-प्रार्थी होते हुए कि मुझसे भगवद्-गुणों के कहने-लिखने में कहीं यदि त्रुटि हो तो वह क्षम्य रहे।

महाप्रभुः किं चरितं तु पूर्वं,
अमृतसरे चान्य विभिन्न धामसु।
कृतं तु तत्सर्वमिहास्ति ज्ञातं,
सर्वान् जनान् वै प्रभु पुस्तकेषु ॥७८

पूर्वकाल में महाप्रभुजी ने 'अमृतसर' में तथा अन्य विभिन्न स्थानों पर जो चरित्र किये हैं वे सब प्रभुजी द्वारा लिखित पुस्तकों में सबको ज्ञात ही हैं।

अमृतसरे ये प्रभुणा प्रसादिताः,
तेषां 'मुल्खराज' इति प्रसिद्धः।
तस्मिन् कृपा या प्रभुणा कृताऽस्ति,
तेनैव सः योगविदां वरिष्ठः ॥७९

महाप्रभुजी द्वारा 'अमृतसर' में जिन पर कृपा-दृष्टि की गई थी, उनमें से श्रीमुल्खराज प्रसिद्ध हुए हैं। प्रभुजी की कृपा के द्वारा ही वे योगसिद्ध-जनों में श्रेष्ठ कहलाये।

एतादृशी हि परमा कृपा पुनः,
कृता स्वशिष्योपरि 'द्रौपदी' या,
महाप्रभूणां परमा हि शिष्या,
निवासिनी अमृतसर एवं नगरे ॥८०

ऐसी ही एक परम कृपा महाप्रभुजी ने अपनी शिष्या द्रौपदी नाम की शिष्या पर की थी। वह अमृतसर नगर की निवासिनी थी।

नास्तीह सा द्रौपदी पार्थिवे स्वे,
कलेवरे दृश्यमाना भवद्भिः।
परं सा गतिं यां परमां च दिव्या,
प्राप्नोत् न सा लभ्यते यत्नकोटिभिः ॥८१

यद्यपि वह द्रौपदी इस समय अपने पार्थिव शरीर में विद्यमान नहीं है। परन्तु उनके द्वारा जो परम दिव्य-गति प्राप्त की गई है। वह कोटि-कोटि यत्नोंके द्वारा भी प्राप्त नहीं की जा सकती।

इत्थं परं श्री प्रभुणा पुनस्तु,
लीलाः कृताः श्री ऋषिकेशधामनि।
तत्रापि विविधाः करुणाश्च या कृता,
नो तास्तु लिखने कथने च शक्तः ॥८२

इसके पश्चात् इसी प्रकार की लीलायें महाप्रभुजी ऋषिकेश धाम में भी की। वहाँ भी जो-जो कृपायें उन्होंने बरसाईं, उनको लिखने व कहने की मुझमें शक्ति नहीं है।

लाहोर नगरेऽपि प्रभुः समागतः,
तत्रापि कल्याण कृपासु लीनः।
नैकान् जनास्तत्र प्रभुः कृपायितः,
कथं जनो मत्सदृशो लिखेत् च ॥८३

'लाहौर' नगर में भी महाप्रभुजी आये थे। वहाँ भी वे कल्याणमयी कृपायें करते रहे। अनेक जनों को उन्होंने अपनी कृपा का पात्र बनाया। मुझ जैसा व्यक्ति उसको कैसे लिख सकता है।

महाप्रभूणां चरणारविन्दाः,
सवांई ग्रामेऽप्यपतन् यदा वै।
एका गुहा 'सिद्ध गुफा' प्रसिद्धा,
तपांसि तत्रास्ते कृतानि प्रभुणा ॥८४

महाप्रभु के चरणारविन्द 'सवाई' ग्राम में भी जब पड़े हैं तो वहाँ महाप्रभु की तपस्या द्वारा एक गुफा का नाम 'सिद्धगुफा' प्रसिद्ध हुआ है।

अस्मद् प्रभूणां कथनीयमस्ति किं,
साक्षात् स योगी परमेश्वरोऽस्ति।
महाप्रभूणां परमो हि शिष्यः,
नाम्नाक्षरैः शोभितः चन्द्रमोहनः ॥८५

हमारे प्रभुजी (गुरुदेव महाराज) का तो कहना ही क्या है। वे साक्षात् योगी परमेश्वर ही हैं। वे महाप्रभुजी के परम शिष्य हैं। अक्षर नाम से शोभित 'चन्द्रमोहन' हैं।

जना अनेका प्रभुणा प्रतारिता,
'सवांई' ग्रामे चरणानुरक्ताः।
तपस्तु यत्रास्ति कृतं गुहायां,
अद्यापि तत्रस्थ रजस्तु पावनम् ॥८६

अनेकानेक जन प्रभुजी ने तार दिये हैं जो सवांई ग्राम में रहते थे और उनके चरणानुरागी हुए। जिस गुफा में उन्होंने तपस्या की थी। उस गुफा की रज आज तक भी पवित्र बनी हुई है।

पुण्या जनाः सिद्ध गुफा रजांसि,
प्रगृह्य धृत्वा च शिरस्तु श्रद्धया।
कामान् स्वकीयान् परिपूरयन्तः,
जन्मानि सफलानि भवन्ति तेषाम् ॥८७

पुण्यवान लोग 'सिद्धगुफा' की रज को लेकर श्रद्धापूर्वक सिर पर धारण करते हुए अपने-अपने इच्छित मनोरथों को पूर्ण करते हैं और उनका जीवन सफल होता है।

महाप्रभुस्तत्र रराम लीलां,
कृत्वा च व्यवस्था तु गुहा स्वकीया।
आकाशगत्या गमनं चकार,
निजेष्टवासे तु नैनाल धामनि ॥८८

महाप्रभुजी ने वहाँ रमण किया था। उस

गुफा को छोड़कर उन्होंने वहीं से आकाश-गमन किया था और अपने निज इष्टग्राम नेपाल आये थे।

सवाई ग्रामीण जना न ऐच्छन्,
महाप्रभुस्तान् गमयेत्तु त्यक्त्वा।
प्रेम्णा वशीभूत मनास्तु सर्वे,
गुहा बाह्य द्वारं बबन्धुरेव तत् ते ॥८९

'सवाई' ग्रामवासी लोग नहीं चाहते थे कि महाप्रभु उनको छोड़कर जायें। प्रेम से वशीभूत मन वाले उन सबने गुफा के बाहर द्वार को इसी कारण बन्द कर दिया था।

महाप्रभुस्तान् कृपया विलोक्य,
स्व योग मायां परिदर्शितस्ततः।
स्वविग्रहं योगरीत्या सुसूक्ष्मया,
विहाय गमनं नभसश्चकार ॥९०

महाप्रभुजी ने उनको कृपापूर्ण दृष्टि से देखकर अपनी योगमाया बाद में दिखलाई थी। अपने शरीर को सूक्ष्म योगरीति से छोड़कर नभोमार्ग से गमन किया था।

कथं पुनः स्वाल्पमति प्रयोज्य,
प्रभोर्गुणानां गणनां विधेयम्।
साक्षात् प्रभुर्यश्च ममास्ति सर्वं,
योगेश्वरोऽसौ भगवद् स्वरूपः ॥९१

मैं कैसे अपनी स्वल्पमति का प्रयोग कर प्रभुजी के गुणों का वर्णन करूं। वे (गुरुदेव) तो साक्षात् प्रभु-स्वरूप हैं। मेरे सर्वस्व हैं, वे योगेश्वर हैं तथा भगवत्स्वरूप हैं।

तेषां तु महिमा कथने सरस्वती,
स्वयं न शक्ता किमु मादृशो जनः।
सर्वे जना यान् शिरसा नमन्ति,
कथं स मे वाग्विषयो भवेत् हि ॥९२

उनकी (गुरुदेवजी की) महिमा सरस्वती भी कहने में असमर्थ हैं। तो फिर मुझ सरीखे मनुज की तो बात ही क्या है। जिन्हें सभी पुरुष-स्त्री शीश नवाकर नमन करते हैं, वे कैसे मेरी वाणी का विषय बन सकते हैं।

लीलाः प्रभोर्मे कथनीयतां यदि,
वाञ्छन्ति मत्तः प्रभुता तु तेषाम्।
जानामि नाहं किमु वर्णनीयम्,
वाचं पुनातु तु मम प्रयासः ॥९३

यदि प्रभुजी मुझसे ही महाप्रभुजी की लीलाओं को कहलवाना चाहते हैं तो ये उनकी स्वयं की ही प्रभुता है। मैं नहीं जानता हूं कि क्या वर्णन के योग्य है। मेरा तो केवल मात्र वाणी को पवित्र कर लेने का प्रयास ही है।

प्रभोः स्वरूपं च यथास्ति तद्वत्,
ज्ञातुं तु शक्योऽस्ति जनैश्च तैरपि।
यान् यान् कृपालो स्वयमेव ज्ञापयेत्,
त एव तान् किंचित मात्रतो ज्ञाः ॥९४

प्रभुजी का जैसा स्वरूप है उसको उसी प्रकार जानने में वे ही लोग समर्थ हैं, जिन-जिनको वे कृपालु स्वयं ही जना दें। वे ही उनको कुछ अंश तक जान या पहचान सकते हैं।

मन्ये तु सर्वान् पुरुषास्तथा स्त्रियः
ये ये च भगवच्चरणानुरक्ताः।
पुण्यात्मनो योग परायणाश्च
ये केऽपि चान्ये प्रभुसन्निधौ हि ॥९५

मैं उन सब पुरुषों तथा स्त्रियों को जो भगवच्चरणानुरक्त हैं, पुण्यात्मा तथा योग-परायण हैं, वे भी अन्य व्यक्ति जो प्रभुजी के सान्निध्य में हैं, वे धन्य हैं।

धन्यास्त्व नूनं परमं च भाग्यं
तेषां तु ये सन्ति विशेषतो हि।
सेवारता नित्य निरन्तरं तु
येनापि केनापि प्रकारकेण ॥९६

वे भी धन्य हैं तथा उन सबका भी निश्चित रूपसे परम भाग्य है, जो विशेष रूपसे उनकी सेवामें जिस किसी भी प्रकार से लगे हुए हैं।

धन्या 'उमा' या प्रभु शक्ति पूरिता
महाप्रभूणां गुण गायनाद्धि:।
योगास्य परमां स्थितमेति नित्यं
योगेश्वराणां च कृपा प्रसादत: ॥९७

प्रभुजी की शक्ति से परिपूर्ण भगवती 'उमा' धन्य है। महाप्रभुजी के गुणों को गान के प्रभाव से योग की परम स्थिति को योगेश्वर की कृपारूपी प्रसाद से नित्य ही प्राप्त रहती है।

धन्यं पुन: ग्राम सवाई नाम्ना
उत्तर प्रदेशस्य च आगरा स्थितम्।
यस्मिन स्थिता 'सिद्ध गुफा' महाप्रभो:
साफल्ययुक्तं विद धाति कामम् ॥९८

'सवाई' नाम का वह ग्राम धन्य है, जो उत्तर-प्रदेश के आगरा जनपद में स्थित है। जहाँ महाप्रभुजी की सिद्धगुफा स्थित है तथा मनोरथ की तथा कामनाओं की सफलता प्रदान करती है।

लक्ष्मणपुरे (लखनऊ) श्रीचरणः प्रभूणाम्
आयान्ति वर्षस्य प्रवेश काले।
मासे द्वितीये प्रथमे च वा पुन:
यथावकाश: प्रभुणा तु लभ्यते ॥९९

लक्ष्मणपुर (लखनऊ) में भी प्रभुजी के श्रीचरण-वर्ष के प्रवेशकाल में ही आया करते हैं। वर्ष के प्रथम अथवा द्वितीय मास में (जनवरी अथवा फरवरी में) प्रभुजी द्वारा जैसा अवकाश प्राप्त किया जाता है, तद-नुसार ही।

चरित्रमेतत् परमं पवित्रं
महाप्रभूणां चरणारविन्दे।
समर्पितं नैव मदस्ति किंचित्
प्रभो: प्रसादात् लिखितं समस्तम ॥१००

यह परम पवित्र चरित्र महाप्रभुजी के ही चरणारविन्दों में समर्पित है। इसमें मेरा कुछ भी नहीं है। यह तो केवल प्रभुजी के कृपा-प्रसाद द्वारा ही लिखा गया है। ●

जीवन पथ

★ जीवन के पथ पर कोई विश्राम नहीं है। प्रत्येक उपलब्धि किसी नई वस्तु के लिए प्रारम्भिक बिन्दु है।

● डॉ० राधाकृष्णनन्

× × × ×

★ दूसरों को नीचा दिखाकर अपने दृष्टिकोण को प्रतिपादित करने का प्रयत्न हमें अवश्य छोड़ देना चाहिए। अपने विरोधी को निकम्मा समझ कर उसे उपेक्षित नहीं करना है, बल्कि उसके प्रति सहानुभूति और समझदारी अपेक्षित है।

● डॉ० राधाकृष्णनन्

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

आत्म-बोधः
(शांकर विचार)

तपोभिः क्षीण-पापानां शांतानां वीत-रागिणाम्
मुमुक्षूणां अपेक्ष्यो ऽयं आत्म-बोधो विधीयते

अनेक प्रकार के तप करके जिन्होंने पापों को क्षीण किया है, जो शान्त है, ऐसे शान्त, वीतरागी मुमुक्षुओं के लिए यह आत्मबोध किया जा रहा है।

बोधो ऽन्य-साधनेभ्यो हि साक्षात् मोक्षैक-साधनम्
पाकस्य वह्निवत् ज्ञानं विना मोक्षो न सिध्यति

अन्य साधनों की तुलना में ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र साक्षात् साधन है। रसोई के लिए अग्नि (जैसे अपरिहार्य साधन है) वैसे ज्ञान के बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती।

अज्ञान-कलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद् विनिर्मलम्
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येद् जलं कतक-रेणुवत्

अज्ञान के कारण कलुषित, अस्वच्छ हुए जीव को ज्ञानाभ्यास से निर्मल कर ज्ञान स्वयं खत्म हो जाता है। जैसे निर्मली का बीज पानी को शुद्ध कर स्वयं खत्म हो जाता है।

संसारः स्वप्न-तुल्यो हि रागद्वेषादि-संकुलः
स्वकाले सत्यवद् भाति प्रबोधे सत्यसद् भवेत्

राग-द्वेषादि से भरा हुआ संसार स्वप्न की तरह अपने काल में (चालू अवस्था में) सत्य भासित होता है, प्रबोध (जागृति, ज्ञान) होने पर वह असत् अर्थात् मिथ्या साबित होता।

पंचकोशादि-योगेन तत्-तन्-मय इव स्थितः
शुद्धात्मा नीलवस्त्रादि-योगेन स्फटिको यथा

नीले या दूसरे रंगों के वस्त्रों के कारण स्फटिक स्वयं स्वच्छ होते हुए भी अलग-अलग रंगों का दीखता है। वैसे आत्मा स्वयं शुद्ध होते हुए भी पंचकोषों के संयोग (वेष्टन) के कारण उस-उस आकार-प्रकार का दीखता है।

वपुस् तुषादिभिः कोशैर् युक्तं युक्त्यवघाततः
आत्मानं आन्तरं शुद्धं विविच्यात् तण्डुलं यथा

जैसे चावल के दाने पर छिलका होता है (एक के ऊपर एक पुट इस तरह), वह युक्ति से कूटकर अन्दर का स्वच्छ चावल अलग निकाल दिया जाय, वैसे युक्ति से (विवेक के द्वारा) अन्तर में शुद्ध ऐसे आत्मा को, पंचकोषरूपी पुटोंवाले शरीररूपी छिलके से अलग किया जाय।

चित्ताधिकरणम्

यस्य चित्तं निर्विषयं हृदयं यस्य शीतलम्
तस्य मित्रं जगत् सर्वं तस्य मुक्तिः कर-स्थिता

जिसका चित्त विषय-मुक्त है और जिसका हृदय शीतल-शान्त है, सारी दुनिया उसकी मित्र है, मुक्ति उसके हाथ में रहती है।

हित-परिमित-भोजी नित्यमेकान्त-सेवी
सकृदुचित-हितोक्तिः स्वल्प-निद्रा-विहारः
अनुनियमन-शीलो यो भजत्युक्त-काले
स लभत इह शीघ्रं साधुचित्त-प्रसादम्

जो हितकर, परिमित भोजन करता है, नित्य एकान्त में रहता है, उचित एवं हित की बात केवल एक बार बोलता है, नपी-तुली निद्रा लेता है, नपा-तुला विहार करता है, स्वभावतः स्वयं अपना नियमन करता है, (और) निश्चित समय पर भजन करता है उसे इस संसार में शीघ्र उत्तम चित्त-प्रसन्नता प्राप्त होती है।

चित्ते सत्त्वोत्पत्तौ तडिदिव बोधोदयो भवति
तस्यैव स स्थिरः स्यात् यदि चित्तं शुद्धिमुपयाति

चित्त में सत्त्वगुण की उत्पत्ति होने पर बिजली जैसे ज्ञान का उदय होता है। लेकिन स्थिर तो वह तभी होगा, जब चित्त शुद्ध हो।

त्रिविधा शान्तिः

स्व-विकारं परित्यज्य वस्तुमात्रतया स्थितिः
मनसः सोत्तमा शान्तिर् ब्रह्मनिर्वाण-लक्षणा

अपने विकार को छोड़कर केवल वस्तुरूपेण रहना (यानी ब्रह्मरूप होकर रहना) वह ब्रह्मनिर्वाण शान्तिरूप लक्षणवाली मन की उत्तम शान्ति है।

प्रत्यक्-प्रत्यय-सतत-प्रवाह-करणं धियः
एषा मध्यमा शान्तिः शुद्धसत्त्वैकलक्षणा

आत्मानुभव के झरने को बुद्धि के द्वारा (सतत) प्रवाहित करना, यह जो एकमात्र शुद्ध सत्त्वगुणरूप लक्षणवाली है, वह मध्यम प्रकार की शान्ति है।

विषय-व्यापृतिं त्यक्त्वा श्रवणैकमनःस्थितिः
मनसश् चेतरा शान्तिर् मिश्रसत्त्वैकलक्षणा

और, विषय-व्यापार को छोड़कर श्रवण में एकाग्र मन की स्थिति, जो मिश्र सत्त्वगुण के लक्षणवाली है, वह मन की (तीसरे प्रकार की —सामान्य) कनिष्ठ शान्ति है।

प्रसन्नता

—श्री विष्णुप्रसाद व्यास

यह युग विज्ञान का है। सब कोई विज्ञानविद बनना चाहता है। विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान—जब हर एक वैज्ञानिक बनने की धुन में है तो अध्यात्म विद्या को कौन महत्व देगा।

अध्यात्म ज्ञान की उप प्यास न होने के कारण आज के मानव की इन्द्रियाँ और मन सांसारिक कर्म करने में ही व्यस्त है। कर्म-प्रधान युग है यह। कर्महीन होकर तो एक भी सुख का श्वास लेना दूभर होता है। जीवन भी खाने को आता है, प्राण उखड़ने लगते हैं, निराशा अपना मुंह बाये हड़पने को पड़ती है। बन्धु-बान्धव भी नोचने को तत्पर रहते हैं, उसे हर एक से अपने विषय में ऊल-जलूल बातें सुननी पड़ती है। इसलिए काम काज में लगा हुआ पुरुष ही सबको प्रिय लगता है। परिवार में और समाज में वह सबकी आँखों का तारा बन जाता है। गली, मोहल्ले वाले उसे आदर की नजर से देखते हैं। कर्त्तव्य परायण पुरुष ही अपने कार्य-क्षेत्र में शुक्र नक्षत्र की भांति चमकता रहता है। सब ओर उसके गुणों की चर्चा ही सुनाई देती है। इस तरह युग में कर्मशीलता की इतनी बढ़ गई है कि सब कोई अपने धंधे में भागता ही दिखाई देता है।

इतनी व्यस्तता और क्रियाशीलता का जीवन होते हुए भी यदि एक वस्तु जिसका अभाव हर किसी विचारवान पुरुष को खटकता है वह है "प्रसन्नता।" आधुनिक जीवन धारा में प्रसन्नता और खुशी की नाव कहीं अतल में चली गई है। अंग-प्रत्यंग उसका प्रसन्नता को पाने के लिए है, यांत्रिक युग है—आज अपने शरीर को अधिक बेआराम बनाने के लिए मनुष्य ने इसे यन्त्रों, महायन्त्रों और संयन्त्रों के हवाले कर दिया है। नई पीढ़ी यही चाहती है कि मुझे अपने हाथ-पांव को हिलाने का कष्ट न करना पड़े। सम्पूर्ण सुख सामग्री भी मिले और वह बैठे बिठाये प्राप्त हो—मेरे मनोवांछित पदार्थ अपने आप ही मशीनोंके द्वारा मेरे समीप आ जाने चाहिए।

मैं ज्योंही घर से बाहर निकलकर किसी और जगह जाना चाहूँ तो मेरे बरामदे के साथ बनी हुई पोर्च (ड्योढ़ी) में कार लगी हो। मोटर साइकिल, स्कूटर या साइकिल ही सही खड़ी होनी चाहिए। भूमि को छूने के लिए अब मेरे चरण नहीं बने हैं। बाहर निकलते ही गाड़ी में हो जाऊँ, सवार और वह मुझे मिनटों में कहीं की कहीं उड़ा कर ले जावे।

समय ही मानव की निधि है। विज्ञान-युक्तता ने देश और काल की दूरियों को पाट दिया है। रेडियो, दूर-दर्शन, दूरभाष, हीटर, कूलर, फुहार, प्रेस, पंखे और बिजली की बत्तियाँ और भी न जाने क्या-क्या जीवनो-पयोगी सुख के साधन मनुष्य को प्रदान कर दिये हैं। संसार के जिस कोने से चाहो बात कर लो, उसकी छवि देखना चाहो तो भी देख लो। यदि इस अबाध गति के मन में विनाश करने की कोई तरंग उठ खड़ी हुई है तो भी अनेक प्रकार के घातक अस्त्र-शस्त्र

चला सकती है। धन्य है यह आजकल का विज्ञान, जिसने संसार को अद्भुत चमत्कार दे करके विमुग्ध कर लिया है।

परन्तु ऐ वैज्ञानिक! तू स्वयं भी जिस प्रसन्नता को पाना चाहता है, उसकी प्राप्ति के लिए तूने किसी भी यन्त्र का निर्माण नहीं किया। तूने विश्व के अणु-अणु की गवेषणा (खोज) कर ली, चन्द्रलोक के अवनितल पर तेरे चरणों की छाप लग गई, किन्तु प्रसन्नता नाम की संजीवनी तेरे हाथ नहीं आई।

इस वसुधा पर सब प्रकार की भोग्य-सामग्री सुलभ हो सकती है, परन्तु न जाने प्रसन्नता जैसी अमूल्य वस्तु को उत्पन्न करने में विज्ञान क्यों कर हार मान गया है। प्रसन्नता की कामधेनु को सृष्टि में से चुराकर यदि तुमने तन-मन के सुख साधनों का ढेर लगा दिया तो क्या कर लिया। इन समस्त आविष्कारों को चारों ओर से लपेटकर यदि कोई पूर्ण सुख-सुविधायें प्राप्त कर भी ले, परन्तु इससे मानसिक प्रसन्नता न मिलेगी। उसका हृदय परितुष्ट न होगा। हृदय की प्रसन्नता भगवत्कृपा का मंगल उपहार है। इस प्रसन्नता को देख सकनेके लिए वैज्ञानिकों की सूक्ष्म वीक्षणियाँ (खुर्दबीन) भी सफल नहीं हो सकीं। कारण आज का विज्ञान अध्यात्म-जगत् की खोज करनेके लिए उत्सुक नहीं है। उसकी दृष्टि में मन-इन्द्रियों को अतिशय सुख देना ही विज्ञान का परम लक्ष्य है। बाहर के संसार की शक्तियों को दोह रहा है—इसी के दोहन में उसे शान्ति मिलने की आशा है। परन्तु नहीं यह उसकी भ्रांति है। प्रसन्नता अथवा संतोष आंतरिक जगत् के अमूल्य मोती हैं। रत्न और मणियाँ सागर की तलहटी में और पर्वतों की गहराइयों में छिपी पड़ी होती हैं। इसी तरह प्रसन्नता का हीरा भी हमारे अन्तर्मन की गम्भीर घाटियों में मिल सकेगा। बाहर के अति रमणीय शरीर लावण्यमयी इन्द्रियाँ और चपल मन और सांसारिक बुद्धि इस प्रसन्नता के देश में प्रवेश तब तक नहीं कर सकती, जब तक अन्तर्मानस में बसे हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, आशा, तृष्णा और अहंकार जागते हैं। ये सबके सब प्रसन्नता के वैरी हैं। अन्दर से चाहे ये चाहते हों कि हम भी शाश्वत प्रसन्नता के धाम बन जायें, हमें भी सच्ची खुशी हासिल हो जाये।

आज के वैज्ञानिकों से जब हम पूछते हैं कि 'आपके इस वैज्ञानिक युग में प्रसन्नता, पूर्ण शांति, परम सुख और शाश्वत आनन्द की स्वर्णिम अरुणिमा (लाली) कहीं नहीं दिखाई देती, इसका क्या कारण है? आपने अब तक ऐसे किसी यन्त्र का निर्माण नहीं किया, जिससे यह दिव्य तत्त्व, जिसको सच्ची प्रसन्नता का धाम कह सकता है, उपलब्ध हो सके।' इस प्रश्न को सुनकर आधुनिक विज्ञान मौन हो जाता है। इसके पास इसका उत्तर कोई नहीं सिवाय इसके कि हम अभी शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धि की बाह्य खोज करने में ही व्यस्त हैं, इनकी गहराइयों में नहीं उतर सके। रजोगुण और तमोगुण की ही छानबीन कर रहे हैं, सत्त्वगुण की सीमा में अभी प्रवेश नहीं कर पाये। इसलिए हम स्वयं भी प्रसन्न नहीं हैं। हमारी खुशी क्षणिक है, जो कुछ भी सफलता हमने प्राप्त की है, उससे हमें हर्ष-गर्व और अभिमान तो है, परन्तु चित्त शांत नहीं हुआ। हम आपसे सत्य कहते हैं कि हमने अभी आध्यात्मिक जगत् को अपनी खोज का विषय नहीं बनाया। हम

इन पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश के ही गम्भीर अनुसन्धान में लगे हैं। इसी सन्दर्भ में ही हमारी दौड़-धूप शुक्र, मंगल, बुध, चन्द्र और सूर्यलोक तक भी हो रही है। हमें इनमें इतना ही बोध प्राप्त करना है कि ये किन तत्वों से बने हैं? इनका आकार-प्रकार क्या है? ये हमारे भौतिक सुखों को बढ़ाने में कितने सहायक हो सकते हैं? इनमें क्या कोई ऐसे उपयोगी द्रव्य हैं जो हमारे लिए इस भू-मण्डल पर आर्थिक विकास करने में सहायता दे सकें।

संत महापुरुष और दिव्य-विभूतियाँ युग-युग में इसीलिए ही प्रकट होती हैं कि ये माया के मोह-जाल में बंधे हुए जीव किसी तरह छुटकारा पा सकें। वे अपने निराकार रूप को भी एक ताक पर रखकर साकार और सगुण होकर हमारे मध्यमें आ विराजते हैं। भूले-भटके जीवों को मोह-ममता की दलदल से निकालकर उन्हें न केवल सदुपदेश देते हैं। अपितु अपने आश्रम बनाकर उनको आसन देकर उनसे शुभ कर्म कराते हैं। आश्रमवासियोंके लिए इस प्रकार की नियमावली बनाते हैं, जिसके अनुसार आचरण करने से एक साधक काम-क्रोधादि वैरियों के प्रहारों से मुक्त होकर प्रसन्न-मुद्रा में रहने लगता है। उसके लिए ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि सभी शुभ मित्र बन जाते हैं और उसकी सेवा करते हैं अर्थात् उसे अब सद्गुरु-दर्शन की कामना रहती है उसका क्रोध अपने में घर किये हुए दुर्गुणों पर होता है।

गुरु गोरखनाथजी की शिष्य-मण्डली में एक प्रमुख शिष्य महाराज भर्तृहरिजी भी थे। इन्होंने जब अपने मनकी नाड़ी को भली प्रकार से पहचान लिया, तब तो वे निर्भय हो गये और निश्चिन्त होकर लगे विचरने।

एक बार कहीं बाजार में से महाराजा जा रहे थे। मेवों और फलों की दुकानें सजी थीं। एक पर लाल-लाल काबुली सेब बड़े ही करीने से रखे थे। ज्योंही उन पर दृष्टि पड़ी, उनका अन्तर्मन मचल उठा और वेग-वान् राजा से बोला कि एक-दो सेब ले लो, आज मेरी तीव्र इच्छा है सेब खाने की। भर्तृहरिजी एकदम चौंक गये और मन से कहने लगे कि—ऐ मन! अब वे हमारे भोग-विलास के दिन लद गये, अब तो वैराग्य हमारा कवच है, त्याग हमारा बाण और सद्गुरु-मन्त्र हमारा धनुष है। अभी भी तूने हमें पहचाना नहीं जो भरे बाजार में मुझे व्याकुल करने लगा है। भूल जा सेब को मुझे लज्जित न कर।

मन कहाँ मानता। उसने फिर उछालें भरीं और बोला एक सेब ले लो। राजा समर्थ गुरुदेव के सिखाये हुए शिष्य थे। मन रूपी काले नाग से उन्होंने खिलवाड़ करना सीख रखा था। इसलिए मन के भी मन को रखने के लिए एक सेब खरीद लिया गया। मन अब उसे खानेके लिए आग्रह करने लगा। राजा बोले—साधु-महात्मा को बाजार में खाना शोभा नहीं देता, बाजार निकल गया, मन ने फिर सिर उठाया और कहा कि अब तो सेब खाओ। खाते हैं न! तू क्यों इतना अधीर हुआ जाता है? अभी हमने स्नान-ध्यान भी नहीं किया। नदी आ गई, स्नान हो गया, सद्गुरुदेवजी का ध्यान भी कर लिया। अब तो मनोदेव अन्दर ही अन्दर इतना प्रसन्न हो रहा था कि सेब खाने का समय निकट-तम आता जा रहा है।

महाराजा भी एक जगी हुई और सधी हुई आत्मा गुरु कृपा से बन चुके थे। उन्हें अपने अन्तर्मानस की एक एक चेष्टा का पता लग रहा था। सब नित्य कर्मों से जब निवृत्त हो चुके तो चाकू लेकर सेब काटने के लिये नदी तीर पर जा बैठे। इस समय मन बल्लियों उछल रहा था।

राजा ने मन को व्यंग भरे स्वर में कहा—मैं सेब काटने लगा हूं तू तैयार होजा—परन्तु होता क्या है सेब काटा और उस टुकड़े को अपने मुख में डालने की अपेक्षा नदी की लहरों में बहा दिया—दूसरा टुकड़ा हाथ में लिया मन को दिखाया फिर नदी को अर्पित कर दिया—सार यह कि सारा सेब ही नदी के अन्दर चला गया परन्तु महाराजा ने अपने मन की अभिलाषा को पूरा न होने दिया। इस कौतुक भरे नाटक के देखने से महाराजा भर्तृहरि की अन्तरात्मा अत्यन्त प्रसन्न थी क्योंकि उन्होंने प्रसन्नता रूपी सीता को हर लेने वाले मन रावण का नाशकर दिया था।

यह है विधि प्रसन्न रहने की कि मन किसी बात को मनवा न पाये। ठीक पन्द्रह दिन बाद उसी मंगलवार को महाराजा ने सेब मंगाकर—चाकू से काट-कूटकर एक तश्तरी में रखते हुए अपने मन से कहा कि ऐ मेरे प्यारे मन! आज मेरी प्रबल अभिलाषा है तुझे सेब खिलाने की। यह ले प्लेट—सेब कटा कटाया पड़ा है—इसे मजे से खाले। मन बिगड़ गया—नहीं मैं आज नहीं खाऊँगा क्योंकि मेरी इच्छा नहीं है। उस दिन मैंने तुम्हें सेब खिलाने के लिये कितने प्रयत्न किये थे। इतना अनुरोध भी किया—अनेक बार अनुनय-विनय की परन्तु अपने इरादे से टस से मस नहीं हुए। हाथ में सेब भी लिया, काटा परन्तु मुझे और भी तरसा दिया।

ठीक है मेरे मन! तूने जो कुछ भी कहा वह अक्षरशः सत्य है—परन्तु क्या करूं मुझे भी गुरुदेवजी ने तुझे वश में करने की यही कुञ्जी बताई है। यदि ऐसा न करूं तो तेरी अनादिकाल से चली आई हुई चंचलता की आदत कैसे छूटेगी?

प्रसन्नता उसी दशा का नाम है जब परमार्थ दशा में ठहरे हुए संसार का सम्पूर्ण कार्य-कलाप मस्तवत् भाव से कर सके। उस अति निर्मल दशा के गौरव पर प्रकाश डालते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी कथन करते हैं कि :—

प्रसादे सर्व दुःखानां हानि रस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता अ० २ श्लोक ६५)

अन्तःकरण के अत्यन्त विमल हो जाने पर जीव के सम्पूर्ण दुःख समाप्त हो जाते हैं। उस प्रसन्न चित्त की बुद्धि की धारा सीधे आत्मा के देश की ओर प्रवाहित होने लगती है। वह योगी शनैः शनैः ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

अब ऐसी प्रशान्त और प्रसन्न दशा को प्राप्त करने का उपाय क्या है? इसके लिये महर्षि पतञ्जलि अपने योग दर्शन ग्रन्थ में कथन करते हैं :—

मैत्रीकरुणा मुदितोपेक्षाणां सुख दुःख
पुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्॥

(योगदर्शन समाधिपाद ३३वां सूत्र)

अर्थात् साधक को प्रयत्न करना चाहिए कि वह सुखी से प्रीति, दुःखी पर करुणा, पुण्यात्मा पर प्रसन्नता और पापी के प्रति उदासीनता का भाव रखे इससे उसका

अन्तरात्मा सुप्रसन्न हो जायगा और उसका चित्त शान्त रहेगा।

मनुष्य का प्रायः ऐसा स्वभाव बन जाता है कि वह ऐसे सुख-सम्पन्न लोगों को देखकर मन ही मन कुढ़ने लगता है। उनके सुखमय जीवन को देखकर उसे आग लग जाती है। अपने चित्त की अशान्ति को शान्त करने के लिए वह उनकी निन्दा या आलोचना करने लगेगा—कभी-कभी मिथ्या दोष लगाकर उन्हें अपमानित करना चाहेगा—परन्तु ऐसा करने से उसके अपने मन की क्या दशा होगी क्या वह स्वयं सुखी और शान्त हो सकेगा। जो दूसरों के सद्गुणों में भी दोष-दृष्टि रखता है उसका अपना अन्तःकरण कैसा होगा? यह बात वह सुखी परिवार भी जान गया है कि अमुक व्यक्ति ऐसा है—वह हमें सद्भावना से से नहीं देखा करता—परन्तु वह अपने आप में तो प्रसन्न है। उसकी दिनचर्या तो बड़ी शान्ति से और सुखपूर्वक चल रही है। यदि दुर्योधन सारा जीवन ही अपने भाइयों के प्रति द्वेष भाव ही रखता रहा तो इससे धर्म-पुत्र युधिष्ठिर जी का क्या बिगड़ा। कौरव अपने बुरे कर्मों के कारण चिरकाल तक नरकों की ज्वाला में जलते रहे और पांडव शुभ कर्मों के कारण स्वर्ग सुखों के भागी बने। उन्होंने सदा ही कौरवों के साथ भलाई ही की। तेरह वर्ष प्रवास में रहे परन्तु वहाँ भी ईश्वर की भक्ति यज्ञ दान पुण्य स्वाध्याय और सत्संग इत्यादि में किसी प्रकार की बाधा नहीं आने दी। दुर्योधन के चित्त में कोई न कोई दुर्भावना बनी रहती थी। इसलिए अपने चित्त को यदि प्रसन्न रखना हो तो कभी ईर्ष्या-दोष दृष्टि और व्यर्थ की आलोचना करना—इन दुर्गुणों को न अपनावें। यह पहला उपाय है चित्त की प्रसन्नता का। दुःखी पर करुणा करना यह दूसरा अंग है। दुःखी को और कष्ट देना, उसकी खिल्ली उड़ाना अपने को सुखी जानकर फूला न समाना और दुःखी न होना ये बातें भी चित्त की प्रसन्नता का नाश करने में सहायक होती हैं।

चित्त की प्रसन्नता का तीसरा उपाय है पुण्य आत्माओं को देखकर हर्ष होना।

चौथा अंग है पापियों से दूर रहना—चित्त की प्रसन्नता के अभिलाषी पुरुष को जो पापी, विषयोन्मुख और अवगुणों से भरे हैं। ऐसे लोगों से किनारा किये रहना चाहिये। उनके प्रति उदासीन रहे उनसे कम से कम सम्पर्क रखे—ऐसे दुर्जनों की संगति से सदा अपना आपको बचाये रखें। नीति कारों का सन्देश है—

"प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम्"

अर्थात् क्योंकि कीचड़ में हाथ सान कर फिर उसे धोने से अच्छा है कि उससे दूर ही रहा जाय।

इस प्रकार अपने चित्त को जिन्होंने इन ऊपर कहे हुए उपायों द्वारा अति निर्मल कर दिया है वे ही अपने मालिक के स्वरूप में विलीन हो जाते हैं।

कितना गौरव है प्रसन्नता के गुण का।

अतएव अपने चित्त की आन्तरिक शान्ति के लिए अत्यावश्यक है कि परम शान्त, ब्रह्मनिष्ठ, मधुर भाषी, एकान्तवासी, सर्व समर्थ सद्गुरुओं की विमल संगति प्राप्त की जाय उनके सहवास में रहकर उनकी पवित्र आज्ञा में चलकर ही जीवन व्यतीत किया जायेगा तो अपने आप ही बिना किसी प्रयत्न के पूर्ण शान्ति और चित्त की नित्य प्रसन्नता सुलभ हो जायगी।

पूजा का स्वरूप एवं उसकी उपयोगिता

● श्रीमती पद्मा सिंघी, काव्यतीर्थ

पूजा शब्द के उच्चारण से ही एक व्यापकता एवं आदर की भावना का जन्म होता है। भारतीय संस्कृति एवं आचार-व्यवहार से ओत-प्रोत एवं घुले-मिले "इस शब्द का हमारे जीवन से गहरा सम्बन्ध है, ऐसी प्रतीति होती है। पूजा के व्यावहारिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तीनों स्वरूपों पर हम दृष्टिपात करें तो समझ में आने लगता है कि इन तीनों ही रूपों में वह हमें कितना ज्यादा प्रभावित करती है, जीवन को सुमार्ग पथ पर चलने की प्रेरणा देती है, उस व्यापक अलौकिक शक्ति जिसे हम परमात्मा कहते हैं, को, पहचानने में हमारी सहायता करती है एवं जीने की कला सिखलाती है।

वैदिक काल से ही पूजा का प्रचलन हमारे यहाँ है। ऋग्वेदमें प्रार्थना एवं पूजा का उल्लेख है। विभिन्न मन्त्रों के माध्यम से अनेक देवी-देवताओं का आवाहन किया जाता है जो आज भी प्रचलित है। यह कल्पना की जाती है कि हमारा पूज्य आ गया। अपनी भावना में मन का विशेष ढङ्ग से संयत और एकनिष्ठ करके प्रार्थना द्वारा लोकोत्तर अद्वितीय अलौकिक का आश्रय लेना, जहाँ मन स्वयं रम जाता है। मन एकाग्र हुए बिना उसका विकास नहीं होता या शक्तियाँ नहीं मिलती। इसलिए मन को एकाग्र करना चाहिए। मन आधार के बिना एकाग्र व स्थिर नहीं होता, उसे अवलम्बन की जरूरत होती है। उसे जिसका अवलम्बन होगा, उसके गुण-दोषों का असर उस पर होगा। जिस प्रकार जड़ का चिंतन करने वाला जड़, स्त्री का चिंतन करने वाला स्त्रैण होगा उसी तरह भगवद्-स्वरूप चिंतन करने वाला मनुष्य दिव्य होगा। इसीलिए अन्य किसी का ध्यान करने की अपेक्षा भगवान् का ध्यान हितावह है। मन एक साथ दो स्थानों पर नहीं रह सकता। अतः साधना के प्रारम्भ के पूर्व भगवान् स्वरूप पर मन एकाग्र करना आवश्यक है। धूप, दीप, प्रार्थना दर्शन से सब भगवान् की खुशामद न होकर मन को स्थिर करने की हमारी तैयारी का एक भाग है, ऐसा हमें समझना चाहिए। दर्शन करने से बार-बार भगवान् का एक चित्र हमारे मानस-पटल पर अङ्कित होता है, उससे ध्यान करने में सुगमता होती है। प्रार्थना या भजन प्रभु के प्रति हमारा आकर्षण बढ़ाते हैं; धूप, दीप, फूल मन को प्रसन्न करते हैं एवं प्रफुल्लित मन प्रभु के चरणों में शीघ्र प्रवेश पाता है।

हमारे मन का बहुत-सा हिस्सा अज्ञात है। मन का छोटा हिस्सा ही वश में नहीं हो पाता तो विशाल कैसे बँध पायेगा। प्रभु में केन्द्रित होने पर ही मन विशुद्ध होगा। अतः मन भगवान् को अर्पित करना ही उचित है—"मय्यावेशय मनो ये" चिंतन भगवान् को

मन, बुद्धि अर्पण किये हैं, उनके ही संकल्प शुभ एवं निर्णय शुद्ध होते हैं। कार्य के हेतु को विशुद्ध करने में भक्ति का बहुत बड़ा हिस्सा है और किसी भी क्रिया की महानता उसके हेतु से जानी जाती है। अतः भगवान् हमारा हेतु पवित्र रखें, इस भाव से भक्ति करना चाहिए।

भगवान् के साकार स्वरूप में मन को स्थिर रखने की साधना, मनुष्य का प्रयत्न और उसके बाद साकार का तिरोभाव और पूर्णता की अनुभूति यही मानव जीवन की सर्वोच्च अवस्था का दर्शन है।

वैज्ञानिकों का भी यह मत है कि ध्वनि अव्यक्त जगत् में एक आकृति को जन्म देती है। अतः देवता एवं मंत्र का अभिन्न सम्बन्ध है। आवाहन के पश्चात् आसन, अर्घ्य, स्नान वस्त्र, चन्दन, बिल्वपत्र, धूप, दीप, नैवेद्य आदि अर्पित करके उसकी पूजा करते हैं, यह है षोडशोपचार। फिर स्तुति करते हैं। अपनी प्रार्थना उसे सुनाते हैं, अपने ऊपर आये संकटों का निवारण करने की मांग करते हैं, वर मांगते हैं, यह भारतीय पद्धति है। इसी प्रकार अन्य धर्मों एवं सम्प्रदायों में भी पूजा का विधान है, लेकिन वस्तु-परक नहीं—जैन, बौद्ध, आर्यसमाजी आदि।

उद्देश्य तो सभी का एक है, लेकिन वह पूजा जो ईश्वर की खोज एवं उसको पाने की उत्कट अभिलाषा को जगा देती है, कितना आनन्ददायिनी होती होगी?

परमात्मा कौन? कितना बड़ा प्रश्न है। जितनी बार यह नाम लो, उतनी बार उभर कर व्यापक रूप में हमारे सामने आता है। एक तरह की अकथनीय, अज्ञात शक्ति सर्वत्र व्याप्त है जो सब प्राणियों पर शासन करता है, वह परमात्मा है। यह शक्ति सबको एकमें बाँधकर रखती है। उसका दर्शन तब होता है जब चरित्र में पवित्रता, वासना की शान्ति एवं सिद्धियों की उपेक्षा होती है। मनुष्य बाहरी साधनों द्वारा जितना सात्विक एवं शुद्ध बनेगा उतना ही ईश्वरके निकट आयेगा। हृदय में राग-द्वेष आदि दोष न हों। हिंसा, चोरी, व्यभिचार व्यवहार में न हों, तभी सच्ची ईश्वर-पूजा होती है। जीवन में धर्म-तत्व की स्वीकारोक्ति से ही जीवन निर्दोष, निरापद और परमानन्दमय बनता है।

मनुष्य के इतिहास में लाखों वर्षोंसे जीवन उत्कर्ष और हितसाधन को न जाने कितनी प्रवृत्तियाँ आती गयीं, लेकिन धर्मास्थियों रूप में कोई अन्तर नहीं आया। धर्म की सभी प्रवृत्तियाँ जो मनुष्य ने अपने जीवन के आरम्भ में पालीं, आज भी विद्यमान हैं। मूल रूप में ईश्वर हमारी आवश्यकता है। अतः मन ईश्वर को अर्पित करना उचित है। गीताः—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

मनुष्य स्वयं असहाय है। उसका परम सहायक है ईश्वर। वह घट-घटवासी है। जैसे ही मन अपनी एकाग्र तथा खोज करेगा उसकी व्यापकता सबको समझ में आ जायेगी। ईश्वर को जानना एक प्रकार से स्वयं अपने को जानना है और जब हम उसको जान लेंगे तो—

जानत मोहि तेहि देउ जनाई।
जानत तुम्हहि तुम्हहि हो जाई॥

स्वयं भी वैसा बनने का वैसा ही आचरण करने की कोशिश करेंगे। यह एक मान्य विषय है कि हम जिस धर्म का अभ्यास करेंगे

उतना ही हमारा विश्वास दृढ़ होता है। हमारे घरों में बचपन से ही पूजा के अभ्यास की शिक्षा माताओं द्वारा दी जाती है। प्रातः उठो, स्नान करो फिर आसन पर बैठकर पूजा करो। इस प्रकार पूजा बच्चोंकी बाल्य-सखी बन जाती है, जिसे वे जीवन भर याद रखते हैं। लेकिन वहाँ कोई दबाव/जोखिम या मजबूरी बाध्यता नहीं है। हाँ, परवश अवश्य है। बचपन में भोलेपन में संस्कार अवश्य पड़ते हैं, किन्तु बड़े एवं प्रबुद्ध होने पर उनको स्वीकार करना या न करना अपनी इच्छा है। बाद में वह जीवन का एक आवश्यकता का सा रूप ले लेता है। यदि बचपन के इस अभ्यास को जीवन के हर पल से जोड़ दें जैसे—भूखे को भोजन देकर, नंगों को वस्त्र देकर, चिन्ताग्रस्त को मीठे शब्दों में आश्वासन देकर, अशिक्षितों को शिक्षा देकर, तो हम सच्चे अर्थों में भगवान् की पूजा करते हैं। अपने समस्त जीवन को भगवत्पूजन रूप बना सकते हैं। इस मार्ग का अवलम्बन बालक-वृद्ध, गरीब-अमीर, विद्वान्-मूर्ख, स्त्री-पुरुष सभी कर सकते हैं। जो भी क्रियमाण कर्म हमारे द्वारा किये जाते हैं, उन सबको विष्णु बनाकर अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति में भगवान् का दर्शन कर सकते हैं। सबको प्रभु के ही रूप में देखकर हमारे द्वारा किया हुआ हर आचरण सर्वांगीण हो जायेगा और प्रभुकी सच्ची पूजा करके हमारा जीवन कृत-कृत्य हो जायेगा।

प्रभु के साथ हमारा सम्बन्ध अनादि है। सदा एकरस स्थिर रहने वाला है। यह सम्बन्ध अत्यन्त निर्मल अपरिसीम एवं प्रेमसे परिपूर्ण है। उनके प्रेम की शक्ति सामर्थ्य की भी सीमा नहीं है, वह भी अनन्त असीम है। वे सर्व समर्थ हैं, सर्वज्ञ हैं, अतीत, वर्तमान एवं भविष्य का अणु-अणु जानते हैं। उनसे इसीलिए कभी तनिक-सी भी भूल नहीं होती। यदि ऐसे प्रभु के साथ हम अपने नित्य सम्बन्ध को जान लें एवं उन पर एकमात्र भरोसा करके अपने कार्य-क्षेत्र में उतरें तो सफलता, आनन्द और संतोष आगे से आगे हमें वरण करने के लिए तैयार खड़े मिलेंगे और हमारे द्वारा भगवान् की सच्ची पूजा हो सकेगी। यदि सफलता मिलने पर स्वयं कर्ता समझकर गर्व करेंगे तो जीवन में यथार्थ कल्याण सम्भव नहीं होगा।

पूजा के तीन प्रकार हैं—सत्त्वगुणी, रजोगुणी एवं तमोगुणी। हमारी इन्द्रियाँ स्वभाव से ही बहिर्मुखी होती हैं। जब तक इन्द्रियों का प्रवाह बाहर की ओर से मुड़कर अंतर्मुख न बन जावे, प्रभु की ओर नहीं हो सकता। हमारी इन्द्रियाँ प्रगाढ़ तमोगुण की ओर दौड़ती रहेंगी, जिनको उखाड़कर प्रभु में दृढ़ आस्था करनी होगी। हृदय में भगवान् की ज्योति जल उठेगी। विश्व के कण-कण में प्रभु अवस्थित हैं। सर्वत्र एक अखण्ड सत्ता, आत्मसत्ता एवं भगवत्सत्ता की अनुभूति होगी। यह पूजा का सात्त्विक रूप है जिसे हमें उभारना है। इस स्थिति में प्रत्येक वस्तु हमारे नेत्रों के सामने भगवान् की परम आनन्दमयी बनकर उपस्थित होगी। उस अवस्था में उच्चकोटि का भक्त भगवान् की स्तुति करते हुए उनमें तदाकार होकर कहता है—

हे प्रभु! मेरे शरीररूपी मन्दिर में तुम्हीं आत्मा रूप से विराजमान हो। मेरे प्राण तुम्हारे सहचर हैं। शरीर में रहने वाली इन्द्रियों के कार्यों द्वारा निरन्तर तुम्हारा ही पूजन होता रहता है। निद्रा ही समाधि है।

चरणों का संचरण परिक्रमा है। वाणी द्वारा उच्चारण किये हुए शब्द तुम्हारी स्तुति है। इस प्रकार मेरे द्वारा कायिक, मानसिक व वाचिक जो भी क्रियाएँ हो रही हैं सभी में तुम्हारा पूजन हो रहा है। ऐसी स्थिति को उभारने से ही सच्ची भगवत्पूजा होती है।

एक स्थिति वह भी है जब मनुष्य सत्कर्म की प्रेरणा से अच्छे कार्यों में प्रयत्नशील रहता है। जैसे जनोपयोगी इमारत, अस्पताल, वाचनालय, स्कूल-कालेज आदि का निर्माण परोपकार करके। यदि हम अपनी राजस सत्कर्म करने की प्रवृत्ति को पहचानकर किसी भी साधन से किसी भी देहधारी को सुख पहुँचाते हैं तो एक प्रकार से वह भगवत्पूजन ही है। सभी देहोंमें जीव रूप से एक ही प्रभु विराजते हैं। अतः किसीको भी सुख पहुँचाना प्रभुको सुख पहुँचाना है। इस प्रकार के पूजन का भगवान के यहाँ बहुत आदर होता है। यदि भगवान् की ओर सत्कर्मों का झुकाव नहीं होता तो मनुष्य में अहंकार का जन्म होता है। यदि पूजा की सच्ची चाह मन में होगी तो चींटियों को अन्न खिलाने से लेकर भूखे को भोजन, नंगे को वस्त्र, चिन्ताग्रस्त को मीठे शब्दों का आश्वासन, अशिक्षितों को शिक्षा आदि राजस सत्कर्मों को हम विश्वरूप भगवान् की पूजा के रूप में देखेंगे। उनकी महत्ता को सच्चे अर्थ में पहचानने लगेंगे। यदि हम चिकित्सक हैं तो रोगी में प्रभु की झाँकी करके, यदि शिक्षक हैं तो प्रत्येक छात्र में प्रभु को विराजित देखकर, वकील हैं तो वादी-प्रतिवादी में अपने इष्टदेव की अभिव्यक्ति देखकर अपने जीवन को पूजामय बना सकते हैं। इस प्रकार सभी को प्रभु के रूप में ही देखकर यदि हम अपने आचार-व्यवहार से उन्हें सुख पहुँचाने की चेष्टा करेंगे तो हमारी पूजा अहन्ता-ममता से रहित सर्वांगीण हो जायगी। प्रभु की सच्ची पूजा करके सदा के लिए कृत-कृत्य हो जायेंगे।

रोगादि जनित क्लेशों से अन्तःकरण यदि आवृत हो जाता है तो तामसी प्रवृत्तियों का जन्म होता है। फलतः मनुष्य ईश्वरके सम्मुख नहीं झुक पाता। जब तक अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश, अन्तःकरण से नहीं निकल जाते तब तक मन निर्मल नहीं हो पाता और हमारे भगवत्पूजन में गत्यावरोध हो जाता है। भगवान् का पूजन अधूरा रह जाता है। इस समय—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात् जो व्यवहार प्रतिकूल लगे उसे दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिए, बल्कि तामसी प्रवृत्तियों को उखाड़कर अपने को उनसे मुक्त करना चाहिए। ईश्वर के प्रति कृतज्ञता की अभिव्यक्ति ही पूजा है। अहंता, ममता के भेदको भूलकर परमात्मा के सम्मुख अपने आपको पेश करना एवं बहुत ही निश्छल सहज भाव से अपने आदर की भावना को उन्हें समर्पित करना उनसे हमारा नित्य का गहरा सम्बन्ध है। सनातन काल से चला आ रहा है—जैसे बच्चा बाल-सुलभ स्वभाव से अपने माता-पिता के सम्मुख मचलता है, अपनी इच्छानुकूल चीजों की माँग करता है, उसी प्रकार परमात्मा के सम्मुख खुले हृदय से हम अपनी स्वाभाविक कामनाओं को रख ही सकते हैं। पुराने काल में ऋषि-मुनियों ने, राजा-महाराजाओं ने "यशोदेहि" आदि माध्यमों से भगवान् से माँगा तो इसमें बुराई क्या है। यदि हम उससे जिसे हमने अपना सर्वस्व समझा है नहीं माँगेंगे तो किससे

माँगेंगे। वही तो हमारा सर्वस्व है, हमारा अपना है, भेद नहीं है, कि अपने से माँग रहे हैं या जिससे माँग रहे हैं उसको अपना मान रहे हैं।

निष्कामता की ओर अति वैराग्य की बात जहाँ आती है वहाँ स्वाभाविक सरलता का हनन हो जाता है। जितनी सीधी सच्ची भावनापूर्ण है, यहाँ कहीं भी अस्वाभाविकता या बनावटीपन नहीं है। हमारी ईश्वर के प्रति पूजा का यही स्वरूप होना चाहिए।

पुराने जमाने में यज्ञ आदि जो कर्मकांड किया जाता था। भगवान से एकतरफा सम्बन्ध नहीं था। आदान-प्रदान की भावना थी। यदि हम ऐसा कर रहे हैं तो बदले में तुम ऐसा करो। जैसे—चढ़ा रहे हैं, मन्त्रोच्चार द्वारा तुम्हें आदर दे रहे हैं, बलि द्वारा तुम्हें नैवेद्य दे रहे हैं तो बदले में तुम मुझे यश दो, पुत्र दो, शक्ति दो आदि। इसमें क्या बुराई है यदि हम अपने पूज्य से आदर सम्मान व्यक्त करके सम्बन्ध निभा रहे हैं तो निकटता का बोध अधिक होता है। भक्त और भगवान् के बीच का फासला कम हो जाता है। इम्पोज़ीशन की भावना नहीं रहती। मॉरल बाइंडिंग तो है नहीं कि तुम्हें ऐसा करना ही है। यह तो अपने से अधिक शक्तिशाली, अपने से अधिक प्रतिभाशाली, सर्व शक्तिमान के प्रति आदर की अभिव्यक्ति है। पुरानी पद्धति थी षोडशोपचार की—यदि कोई अतिथि भी घर आता तो आसन, मधुपर्क, नैवेद्य, गन्ध, पुष्प, फल-फूल, माला, धूप, दीप आदि देकर उसका आतिथ्य करते थे। पद-प्रक्षालन करते थे।

"अतिथि देवो भव" यह भावना थी। उसको भी देवता माना जाता था। अभी भी आदर-सम्मान देना, चरण स्पर्श करना, सिर झुकाना, नमस्कार करना प्रचलित ही है। इसकी संस्कृतियाँ दूसरे देशों में भी प्रचलित हैं, जैसे—हाथ मिलाना, गुड मॉर्निंग कहना, 'हैलो' कहना। जब नित्य प्रति दिनचर्या में यह सम्मिलित था और है तो भगवान् के लिए कुछ अधिक है ऐसा तो नहीं—

हम धूप, दीप, नैवेद्य, फल-फूल, वस्त्र एवं आरती द्वारा यदि उनका सत्कार करते हैं तो ये उपकरण चापलूसी के नहीं नित्य प्रयोग में आने वाले हैं। उनके माध्यम से हम अपनी आदर, सम्मान, मैत्री की अभिव्यक्ति करते हैं, खुशामद नहीं करते। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्शका, घण्टा, फूल, चरण-वन्दन, समर्पण मनोयोगपूर्वक उसमें निष्ठा, विश्वास है। ऊपरी बनाव नहीं है, ऐसा प्रतीति स्वयं होने लगती है।

ईश्वर हमसे भिन्न तो नहीं लेकिन प्रेरक शक्ति अवश्य है। जो जीवन के हर क्षेत्र में अपनी हर क्रियाओं से हमें अत्यधिक प्रभावित करती है। यदि हम उस महान शक्ति के साथ गहन सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं तो उसके लिए कोई नियम, कोई कानून हो इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह स्वतः ही हमारी प्रेरणा है। पूजा द्वारा उस परम शक्तिशाली ईश्वर से हमारा गहन सम्बन्ध स्थापित होता है। यह माध्यम है। ईश्वर को जानने का, पहचानने का, अपना बनाने का, यहाँ कोई मॉरल या लोगल प्रतिबन्ध तो है नहीं कि ऐसा मन्त्रोच्चारण करना ही होगा, ऐसा आचरण करना ही होगा, इतना समय आराधना, वन्दना में, लगाना ही होगा। जब ऐसे प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं

● शेष पृष्ठ ३७ पर

अमृतवर्षिणी गुरुवाणी

● श्री डॉ० ऋषिराम शर्मा

इस लेख के माध्यम से मैं उन अमृतत्व प्रदान करने में पूर्णतः सक्षम गुरुवाक्यों का स्मरण करना चाहता हूँ जो मैंने परम सौभाग्य से सदाकदा गुरुदेवजी के मुखारविन्द से श्रवण की हैं। यद्यपि मैं स्वयं उन रहस्यमय उपदेशों को आत्मसात नहीं कर पाया। किन्तु मुझे अपने उन संस्कारों का अपने स्मृतिपटल पर स्फुरण तो होता रहता है और ऐसा अटूट विश्वास उन आनन्दस्वरूप प्रभुजी ने पैदा कर दिया है कि यह अमृतवाणी कालान्तर में मुझे हठात् अमृतत्व के शिखर पर अवश्य खींच ले जायगी। यह तो आप सभी का अनुभव होगा कि जो भी हम श्रवण करते हैं वह पूर्णरूपेण तो स्मृति में रह नहीं पाता है, केवल संक्षिप्त बातें सांकेतिक भाषा में याद रह पाती हैं अतः इस लेख में भी मैं पूर्ण विवरण न देकर उनका संकेत ही दे सकूँगा।

गुरुदेवजी ने कहा कि :—

"तपस्वीभ्यो.धिको योगी,
ज्ञानिभ्यश्च मतोऽधिकः,
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्मात योगी भवार्जुन"।

अर्थात् महत्व की तुलनात्मक दृष्टि से योगी का स्थान सर्वोपरि है। तपस्या करने से, ज्ञानार्जन करने से या दान-यज्ञादि पुण्यकर्म करने से अन्तःकरण का शुद्धिकरण तो हो सकता है और स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति भी हो सकती है किन्तु वह अमृतत्व प्राप्ति नहीं होती जिसके विषय में जगदात्मा कृष्ण कहते हैं कि :—

"सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्
यत्र वेत्ति न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्
स निश्चयेन योक्तव्यं योगोऽनिर्विण्णचेतसा"

अर्थात् योगी को उस अनन्त, अक्षुण्ण और अमर सुख की प्राप्ति होती है जिसका केवल प्रज्ञा द्वारा अनुभव होता है और जो इन्द्रियों का विषय नहीं है और न इन्द्रियों के विषय-भोग के सुख की तरह क्षणिक, चंचलवृत्तियों की लहरों में खो जाने वाला है और न अन्य किसीभि सुख की तरह व्याधि और कष्ट का जनक है। वह तो वह सुख है जिसको पाकर मनुष्य को सदैव के लिए जन्म-मरण से मुक्ति मिल जाती है, काम-क्रोध-मद-लोभादि विकारों के मायिक बन्धन स्वतः कट जाते हैं, जीव को पाप-पुण्य कर्मों के संस्कारों से, उनके परिणामों से एवं परस्पर वृत्ति विरोध के संघर्षपूर्ण द्वन्द्वप्रपंच से मुक्ति मिल जाती है और पुनः मायिक बन्धन में फंसने का भय नहीं रहता। जिस लाभ से बड़ा कोई अन्य लाभ हो ही नहीं सकता उस लाभ को पाकर योगी कृतकृत्य हो जाता है, अजर अमर-अमर स्वरूप स्थिति को पा

जाता है। ऐसी परमानन्दमय स्थिति को पाने के लिए भगवान्पूर्ण निश्चय के साथ अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को योगी बन जाने का आदेश देते हैं।

हमारे गुरुदेव जी भी बार-बार भाव-विभोर होकर दिन-रात, जगह-जगह भ्रमण करते हैं, योगी बन जाने का आदेश देते हैं, प्यार से तो कभी ताड़ना से समझाते हैं कि मनुष्य जन्म दुर्लभ है, कहीं व्यर्थ न बीत जाय, मृत्यु के आने से पूर्व ही योगी बनकर मृत्युञ्जय हो जाओ, अमृतत्व को पालो। हमने कहा कि गुरुजी मन तो करता है योगी बनने को, इससे बड़ी स्वार्थ सिद्धि क्या होगी, किन्तु कैसे बने योगी। गुरुदेवजी हमारी विवशता, मन की चंचलता और हमारी मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों पर विषय-वासना की जबरदस्त पकड़ को देखकर मुस्कराते हैं और कहते हैं कि जगद्गुरु कृष्ण ने जो कहा है सो सुनो :—

"ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः,
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्तः उपासते
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसारसागरात्
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्"
मयि मनः आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय
निवसिष्यसि मय्येव अतः ऊर्ध्वं न संशयः
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजयः
अभ्यासे अप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि
अथैतदप्यसमर्थोऽसि कर्तुं मद्योगं समाश्रितः
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्

अर्थात् पहले यह निश्चय करो कि तुम्हारे जीवन का लक्ष्य क्या है, भोगी बनना या योगी बनना चाहते हो। भगवान पतंजलि महाराज ने यह स्पष्ट विश्लेषण कर दिया है कि इस संसार को यदि बहिर्मुखी इन्द्रियों से देखते रहोगे तो यह पंचभूतात्मक त्रिगुणमयी माया द्वारा रचित संसार तुम्हें भोग देता रहेगा किन्तु भोग में सुख-दुःख की बड़ी विडम्बना है, क्योंकि सुख पुण्यकर्म का परिणाम है और दुःख पापकर्म का परिणाम है और विषय-भोगी का चित्त रज और तम के वशीभूत पापोन्मुख होता है न कि पुण्योन्मुख। अतः कर्म और उसके परिणाम का सामंजस्य न होने से सुख की खोज में दुःख की लहरों के भंवर में पड़ जाना पड़ता है। इस भंवर से मुक्ति का एकमात्र उपाय है इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाकर अन्तर्जगत में प्रवेश करना और बस यहीं से योगविद्या की वर्णमाला आरम्भ होती है। अतः यदि तुम्हारे जीवन का लक्ष्य योगी बनना है तो उस योगाधीश ईश्वर को अपने सर्व कर्मों के फल का त्यागने का लक्ष्य बनाओ। इस तरह जो भी कार्य शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के माध्यम से होते हैं उनके फल को अपने परमाराध्य को अर्पण कर देने से न तो अहंकार मूलक काम, क्रोध, मद, लोभादि विकारों का प्रकोप होगा और न रागद्वेषमूलक वासना-बीजों का अन्तःकरण में निर्माण होगा। रजोगुणी विकारों के अभाव में मन शान्त तथा अनन्यभाव से परमात्मा की प्रतिक्षण उपासना में लगा रहेगा। परिणामस्वरूप प्रेम-भक्ति की उन्माद-भरी लहरों में मायिक मलावरण धुल जायगा और प्रेम के वशीभूत भक्तवत्सल योगेश्वर तुम्हारी भवसागर में पड़ी नाव के स्वयं कर्णधार बन जायगे, मार्ग की मायावी विघ्न-बाधायें विश्वाधीश को देखते ही गायब हो जायगी और बस तुम्हारे योगी बनने का

लक्ष्य पूर्ण होने में कोई विलम्ब नहीं होगा, यह उन सत्यसंकल्पी परमात्मा की गीता में प्रतिज्ञा है।

हमारे मन में बार-बार एक शंका उठ रही थी कि इस दुर्लभ योग को पाने के लिए यह विकारी मन एकाग्रावस्था को कैसे प्राप्त होगा? उस परमेश्वर की अनन्य भाव से उपासना कैसे सम्भव है? गुरुदेवजी की वाणी पुनः सुनाई पड़ी कि योग-विद्यामें भी सीढ़ियाँ हैं और उन्हें पार करनेके लिए भी अधिकारी तो बनना ही पड़ेगा और अधिकार की योग्यता आती है ध्यान और स्वाध्याय से। इसलिए मोक्षदाता शास्त्रोंके अध्ययनमें समय लगाओ, उन पर मनन करने से मन सूक्ष्म विचारों में जाकर एकाग्रता की ओर अग्रसर होता है। जब मन एकाग्र होने लगे, बाह्य शून्यता बढ़ने लगे तो एकाकार वृत्ति से अपने इष्टदेवका ध्यान करने लगो। जब मन ध्यान से बाहर आने लगे तो पुनः जप और स्वाध्याय में लग जाओ। ऐसा निरन्तर प्रवाह चलता रहेगा तो स्वतः एकाग्रावस्था प्राप्त होने लगेगी। परमात्मा का सूचक सतोगुणी प्रकाश का अनुभव होने लगेगा। एकाग्रता सूचक अनाहत नाद की स्वतः स्फुरणा होना आरम्भ हो जायेगी और परिणामस्वरूप ईश्वर की अनन्य योग से उपासना का क्रम आरंभ हो जायेगा। बस, फिर तो वह आनन्दकन्द परम दयालु है, तुम्हारे मनकी बागडोर स्वयं सम्हाल लेंगे। जो उच्चकोटि की अधिकारिता प्राप्त कर चुका है, उसको तो बस इतना ही करना है कि निरंतर अभ्यास के द्वारा एकाग्र मनको निरोधावस्थामें ले जाकर परमात्मा के समष्टि वाले मन में अपना मन और उनकी बुद्धि में अपनी बुद्धि को एकाकार कर समाहित कर लोगे, तो वह स्वतः सिद्ध योगी हो जायगा। यदि इस प्रकार समाहित करने की योग्यता नहीं आ पाई है तो उस योग्यता को पाने के लिए साधना करनी चाहिए। यदि योग-साधना नहीं हो पाती, तब मुझको अपना परम लक्ष्य मानकर मेरे योगमय स्वरूप में ही तन्मय होकर उपासना कर और यदि उपासना में भी मन न लगे, तो शास्त्रोचित कर्मों को कर्त्तव्य-बुद्धि से करते जाना चाहिए और बलपूर्वक उनके फल की स्वयं कामना न कर मेरे अर्पण करते जाओ। इस प्रकार कर्मों के फल त्याग से भी तुम्हारा मन शुद्ध हो जायगा और वह परम शक्तिमान् परमात्मा तुम्हारी जीवन-नौका के कर्णधार बनकर भव-सागर से पार करा देंगे इसमें कोई संदेह नहीं।

इसकी पुनः पुष्टि के लिए गुरुदेवजी ने कहा कि—

पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूः,
पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

● पृष्ठ ३४ का शेष

तो वह पूजा अन्धविश्वास और ढकोसला बन जाती है। किन्तु यदि भावनापूर्ण हृदय से जब बिना किसी तनाव या प्रतिबन्ध के हम ढकोसला को स्वाभाविक कर्म बना लेते हैं तो वह विश्वास के रूप में बदल जाता है। ऐसे देखा जाय तो जीवन के हर व्यवहार में ढकोसला है। किन्तु जब भाव के साथ जुड़ जाता है तो उसका रूप बदल जाता है। ऐसे ईश्वर के प्रति किये गये व्यवहार अर्थात् पूजा को हम सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति ही कहेंगे। उसमें जो समर्पण है उसकी अनुभूति ही हो सकती है इसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। ●

कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्,
आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन् ॥

अर्थात् ब्रह्माजी ने इस शरीर की रचना करते हुए इन्द्रियों के द्वारों को बहिर्मुखी बनाया। अतः बाह्य विषयों का ही स्वभावतः अनुभव करती है। परिणाम स्वरूप जीव माया-मोह के विशाल रेगिस्तान में विषय-भोगों की मृग-मरीचिका में फंस जाता है। यदि कोई धैर्यवान् योगानुगामी होकर इन्द्रियों के बाह्य द्वारों को बन्द करले और अन्तर्मुखी इन्द्रियों के माध्यम से ध्यान-क्रिया के द्वारा अन्तर्जगत् में प्रवेश कर जाये तो वह निश्चित ही उस अमृत को पा जाता है, जिसके पान करने से सभी दुःखों से मुक्ति मिल जाती और दिव्य योग को पाकर जीवन सफल हो जाता है।

मन में प्रश्न उठा कि इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कैसे बनाया जाय, तो गुरुदेवजी की वाणी पुनः सुनाई पड़ी कि—

शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन कुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रिय क्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्यात् योगमात्म विशुद्धये ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलंस्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियत मानसः।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

अर्थात् किसी शुद्ध स्थान में अपना आसन लगाकर बैठो, जहाँ वासना-वृत्तियों का संसर्ग न व्याप्त हो। आसन भी क्रमशः कुश, मृगचर्म तथा वस्त्र निर्मित हो और समतल भूमि होनी चाहिए। तब उस पर आसनबद्ध मुद्रा में बैठकर मन और इन्द्रियों के सांसारिक वृत्ति व्यवहार पर पूर्ण अंकुश लगाकर मन में एकाग्रता परिणाम लाने का अभ्यास आरम्भ करना चाहिए। इस विधि से एकाग्र मन को भ्रूमध्य स्थापित कर, शरीर को जड़ की भांति स्थिर कर लेने पर स्वतः मन शान्त हो जायगा। इसी अभ्यास को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए निरन्तर तन्मय भाव से करते जाओ तो वह परिणाम अवश्य-अवश्य ही सामने आयेगा। जिसकी हम बात कर रहे थे और तुम निश्चित ही उस योग को पा जाओगे, जिसकी कामना करते हो। हाँ, एक बात का ध्यान रखने की आवश्यकता है कि वह पूर्ण योगस्थिति तभी आ पायेगी जब तुम भगवान् श्रीकृष्ण की उस परीक्षा को उत्तीर्ण कर लोगे, जिसमें कहा गया है कि योग का प्रादुर्भाव तभी होगा, जब—

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
—गीता १८/५१-५२-५३

अर्थात् जब तुम्हारी बुद्धि विशुद्ध हो जाय यानी जो मायिक विकारों से प्रभावित न हो, अविद्या जनित राग तथा द्वेष तुम्हारी वृत्तियों का आकर्षण न कर सकें। जब तुम्हारा मन एकान्त प्रेमी हो जाय, सूक्ष्म आहार पर शरीर का चालन होने लगे और स्वतः ही इन्द्रियों की विषय-लोलुपता समाप्त हो जाय, विषय-भोग की इच्छा मात्र भी चित्तपट न आ सके। मन इतना उपराम हो

● शेष पृष्ठ ४१ पर

तो क्या ?

१. राज्यमान्य विद्या प्राप्त कर ली तो क्या,
प्रभावशाली सम्पत्ति प्राप्त करली तो क्या,
अथवा पंचपक्वान्न खाकर तृप्ति कर ली तो भी क्या (लाभ),
यदि उस मनुष्य ने आत्म साक्षात्कार ही नहीं किया ?

२. अनेक सुन्दर देश देखे तो क्या,
इष्ट मित्र-बन्धुओं का पोषण किया तो क्या,
दारिद्र्य वगैरह से होने वाला दुःख दूर किया तो भी क्या (लाभ),
यदि उसने आत्मा का साक्षात्कार ही नहीं किया ?

३. गंगा आदि तीर्थों में स्नान किया तो क्या,
सोलह प्रकार के दान दिये तो क्या,
अथवा कोटि-कोटि मन्त्रों का जप किया तो भी क्या (लाभ),
यदि उसने अपनी आत्मा का साक्षात्कार ही नहीं किया ?

४. अन्न से ब्राह्मणों को तुष्ट किया तो क्या,
यज्ञों से देवों को सन्तुष्ट किया तो क्या,
कीर्ति से सब लोक व्याप्त कर दिये तो भी क्या (लाभ),
यदि उसने अपनी आत्मा का साक्षात्कार ही नहीं किया ?

५. अथवा युद्ध में शत्रु को जीत लिया तो क्या,
अथवा अनेक मित्रों से परिपूर्ण हो गया तो क्या,
अथवा योगों से सिद्धि प्राप्त कर ली तो भी क्या (लाभ),
यदि उसने अपनी आत्मा का साक्षात्कार ही नहीं किया ?

★

प्रश्नोत्तराणि

१. त्वरितं किं कर्तव्यं विदुषां संसारसंतति-च्छेदः
किं मोक्ष-तरोर् बीजं सम्यग्-ज्ञानं क्रिया-सिद्धम्
सयाने लोगों का त्वरित कर्तव्य क्या है ? संसार-प्रवाह का छेदन ।
मोक्ष-वृक्ष का बीज क्या है ? क्रिया से सिद्ध सम्यक् ज्ञान ।

● ● ●

२. कः पथ्यतरो धर्मः कः शुचिरिह यस्य मानसं शुद्धम्
किं मनुष्येष्विष्टतमं स्व-पर-हितायोद्यतं जन्म
पथ्यतर क्या है ? धर्म ।
इस जग में शुद्ध कौन है ? जिसका मानस शुद्ध है वह ।
मनुष्य को अत्यन्त इष्ट क्या है ?
अपने और दूसरोंके हित के लिए उद्यत जीवन । —आचार्य शंकर

बन्धन एवं मोक्ष का हेतु मन

● श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

उपनिषदों एवं अन्यान्य योग-परक सभी ग्रंथों में मन को ही बंधन एवं मोक्ष का मूल कारण माना गया है। अतः हमारे पूजनीय योगाचार्य महानुभावों ने मन को वश में करने पर विशेष बल दिया है और उसके लिए विविध उपाय बताये हैं।

महोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में महर्षि ऋभु अपने आज्ञाकारी, परम तपस्वी एवं जिज्ञासु पुत्र निदाघ को योगोपदेश देते हुए बताते हैं कि—शम, विचार, संतोष और सत्संग ये चार मोक्ष-मार्ग के द्वारपाल हैं। अतः इनका आश्रय लेकर मन को संकल्प, आशा एवं वासना से रहित बना लेना चाहिए। जगत् के पाश से मुक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन तप, इन्द्रिय दमन और सत्पुरुषों की संगति के द्वारा अपना ज्ञान बढ़ाये। अपने अनुभव से, शास्त्र प्रमाण एवं गुरु के उपदेश से निरन्तर अभ्यास द्वारा आत्म-चिंतन की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि तुमने संकल्प और आशा का अनुसंधान त्याग दिया है तो कैवल्य की प्राप्ति स्वयं ही हो गई होगी। क्योंकि चित्त का अकर्तृत्व ही चित्तवृत्तियोंका निरोध कहा गया है। इसी ही कैवल्य अवस्था अथवा परमशांति कहा गया है। इसलिए संसार के सब पदार्थों में आत्म-भावना का सभी प्रकार त्याग कर गूंगे, अंधे और बहिरों के समान रहना चाहिए। ऐसी भावना करनी चाहिए कि—"मैं सदा अकर्ता हूं।" संसार में जितने दुःख, जितनी तृष्णायें और दुश्चिन्तायें हैं वे सब शमवान् अर्थात् शांत मन वाले पुरुष में सूर्य की किरणों से अंधकार दूर होनेके समान ही नष्ट हो जाती हैं। जैसे माता पर पुत्र विश्वास करता है, वैसे ही शम वाले पुरुष का सभी मृदु एवं कठोर स्वभाव वाले प्राणी पूर्ण विश्वास करते हैं।

जो सुख मनुष्य को शान्ति से प्राप्त होता है, वैसा सुख लक्ष्मी के आलिंगन द्वारा अथवा अमृत का पान करने पर भी नहीं मिल सकता। शांत पुरुष वही है जो शुभ-अशुभ को सुनकर भी हर्ष-विषाद नहीं करता और भूखा रहने पर या भोजन कर लेने पर सुख-दुःख नहीं मानता। जिसका मन चन्द्रमा के समान अत्यन्त निर्मल है और जो युद्ध, उत्सव अथवा मृत्यु में भी हर्ष, शोक द्वारा अधीर नहीं होता, वही पुरुष शांत-चित्त (शमवान्) कहा जाता है। तपस्वियों, विद्वानों, याज्ञिकों, राजाओं और गुणवालों में भी वही शोभा पाता है जो शम से युक्त है।

शम के बाद दूसरा साधन है—विचार,

कल्याणकामी व्यक्ति को चाहिए कि वह निरंतर विवेकपूर्वक इस बात पर विचार करता रहे कि—"मैं क्या हूँ और यह विश्व प्रपञ्च कैसे उत्पन्न हुआ है ?" वह कभी निरर्थक कार्य को न करे और दुर्जनों की संगति से बचता रहे। मृत्यु पर बराबर विचार करते रहना चाहिए कि वह सबको खा जाती है, किसी को नहीं छोड़ती। अतः उसके प्रति उपेक्षा भाव मत रखो। यदि उपेक्षा करनी है तो शरीर, हड्डी, मांस, रक्त आदि नश्वर पदार्थों के प्रति करे। जैसे मोती की लड़ियों में सूत पिरोया जाता है, वैसे ही प्राणियों में पिरोये हुए चिदात्मा को देखो। यह जान ले कि मन का स्वरूप बाहरी है, भीतरी नहीं। गुरु और शास्त्र के वचनों से

● पृष्ठ ३८ का शेष

जाय कि योग-ध्यान से कभी हटना ही न चाहे। माया के काम, क्रोध, मद, लोभादि विकार तथा किसी भी तरह का प्रलोभन न दे सकें। अज्ञान जनित अहङ्कार और शक्ति-प्रदर्शन जैसी भावनायें लुप्त होने लगें, तब समझ लो कि योगी बनने में देर नहीं है और वह कल्याणधन महाप्रभुजी बस तुम्हें अपनी गोद में लेने के लिए तैयार बैठे हैं, उनके करुणा-प्यार से तुम निश्चित ही धन्य-धन्य हो जाओगे। वे करुणा-निधि अपने ऐसे बच्चों को प्यार करने के लिए स्वयं उतावले बैठे हैं। बस, अपनी कीचड़ साफ कर उनकी राह में बैठ तो जाओ। एक बार दुनिया की याद छोड़कर उनकी पुकार करके तो देखो, वह तुम्हें क्षणमात्र में योगी बना देंगे। यह विश्वास रखो और इसी विश्वास पर जीना सीख लो। ●

"मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा जान ले और शोकादि का त्याग करें।

तीसरा साधन है—संतोष। सन्तुष्ट वही कहा जाता है जो प्राप्त वस्तु में समान भाव रखता है और अप्राप्त वस्तु की लालसा नहीं करता। प्राप्त वस्तु के उपभोग में संतुष्ट रहने वाला तथा अप्राप्त वस्तु की चिन्ता न करने वाला पुरुष समान भाव का आचरण करता है वही सन्तुष्ट है। आत्मा में रमण करने वाले महापुरुष वही होते हैं जो संतोष रूपी अमृत को पीकर तृप्त रहते हैं। उन्हीं को ही परम-पद की प्राप्ति होती है।

चौथा साधन है—सत्संग, जो कि मोक्ष-पथ का महत्वपूर्ण सोपान है। साधक को चाहिए कि जब तक आत्म-विश्रांति की प्राप्ति न हो जाय, तब तक समय के अनुसार देश के अनु-रूप और शास्त्र के अनुकूल यथासंभव सत्संग करते हुए मोक्ष मार्ग पर विचार करता रहे।

ऋषिप्रवर ऋभुजी अपने जिज्ञासु पुत्र को सम्बोधित करते हुए आगे कहते हैं—

मनो यत्रार्थेष्वखिलार्थमुपायं कथयामि ते।
यद्यस्त्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नु ते॥

अर्थात् जिन-जिन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए मन चंचल हो, उन-उन वस्तुओं का त्याग कर देना मोक्ष प्राप्ति का एक सरल साधन है।

जिसके लिए इच्छित वस्तु के त्याग की भावना, एकान्त-प्रियता और आत्मा की आधीनता दुष्कर है, वह मनुष्य रूपी कीड़ा धिक्कार का ही पात्र है। अपनी इच्छित वस्तु का अपने प्रयास से त्याग करना ही मन की शांति का श्रेष्ठ उपाय है। इसके सिवा अन्य गति नहीं है।

सङ्कल्प-शून्यता रूपी भस्म द्वारा इस चित्त

को काट डालता है तब सर्व अन्तर्यामी परम ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इसलिये प्रपञ्च की भावना का त्यागकर श्रेष्ठ बुद्धि वाले होओ और मनको नियन्त्रित कर चिन्मात्र में स्थित हो जाओ। मन के नियन्त्रण के लिए अभ्यास और वैराग्य का सहारा लेना चाहिए। मेरा-तेरा की भावना ही मन है और जब इनका त्याग कर दिया जाता है तो मन का स्वतः ही नाश हो जाता है। जैसे शरद ऋतु में छिन्न-भिन्न हुए बादल वायु की ठोकर खाकर आकाश में ही लय हो जाते है, वैसे ही सद्-विचारों के द्वारा मन भी लीन हो जाता है। मन का सङ्कल्पहीन हो जाना ही समस्त सिद्धियों का साधन है। जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है, वैसे ही मन का धर्म चञ्चलता है। यही चञ्चल स्वभाव वाली स्पन्दन शक्ति चित्त का धर्म है। इस शक्ति को विश्व प्रपञ्च का रूप ही मानना चाहिए। चञ्चलता रहित मन ही वह अमृत स्वरूप है, जिसे शास्त्र मोक्ष कहते हैं। मन की चञ्चलता ही अविद्या है, वासना उसका लक्षण है। यह वासना ही शत्रु के समान है। अतः विचारवान पुरुषों का कर्तव्य है कि वे इस वासना को ही नष्ट करने का प्रयत्न करें। मन का नाश ही अविद्या का नाश होना है। मन के द्वारा जो कुछ भी अनुभव में आवे, उसमें चित्त को मत रमने दो। आस्था का त्याग करना ही मुक्ति है और आस्था के अधीन रहना ही साक्षात् दुःख है।

नाहं ब्रह्मेति संकल्पात् सुदृढाद्बध्यते मनः।
सर्वं ब्रह्मेति संकल्पात् सुदृढान्मुच्यते मनः॥
कृशोऽहं दुःखबद्धोऽहं हस्तपादादिमानहम्।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते॥
नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्त्यात्मनि स्थितः
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते॥
नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्यः परोऽस्म्यहम्।
इति निश्चितवानन्तः क्षीणविद्यो विमुच्यते॥

अर्थात् अपने को ब्रह्म न मानना अथवा ब्रह्म से भिन्न मानना ही मन को बंधन में डालने वाला है। इसके विपरीत "ब्रह्म ही सब कुछ है" ऐसा सङ्कल्प मन को मुक्त कर देता है।

मैं कमजोर हूं, दुःखी हूं, हाथ-पैर आदि अवयवों वाला हूं। इस प्रकार से अपने शरीर की चिन्ता करने तथा सांसारिक बातों पर ध्यान देने से ही प्राणी बंधन में पड़ जाता है, परन्तु देह की चिंता से मुक्त और सांसारिक बातों से परे रहने वाला मनुष्य सदा मुक्त रहता है। जो अपने को मांस-हड्डी का पुतला न मानकर उससे भिन्न होने का भाव रखे, उसके अंतःकरण से अविद्या का नाश हो जाता है और वही व्यक्ति मुक्ति को पाता है।

अनात्म पदार्थों आत्म-भाव रहना ही अविद्या है। इससे परे जो पुरुष अभ्यास और वैराग्य के सहारे से विवेकपूर्वक भोगेच्छा का बलात् दमन करके निर्विकल्प हो जाता है वही सुखी है।

"मैं वह ब्रह्म हूं, जो सदा देवताओं का भी उपास्यदेव है। जो श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर, महान से भी महान्, शाश्वत, कल्याणमय, परम तेजोमय, सर्वज्ञ, सनातन एवं पुराण-पुरुष है" इस प्रकार की भावना मोक्ष प्राप्ति का श्रेष्ठ कारण है। हे श्रेष्ठ आत्मन्! इस संसार में चार प्रकार के निश्चय वाले मनुष्य होते हैं।

"मेरे शरीर की रचना माता-पिता द्वारा

हुई है।" यह पहले प्रकार का निश्चय है, जो कि मनुष्य को बन्धन में डालने वाला है।

"मैं जगदात्मक भावों से रहित केश के अग्रभाग से भी सूक्ष्म आकार वाला आत्मा हूँ" यह दूसरे प्रकार का निश्चय है। इस निश्चय के द्वारा संतजनों को (उत्तम साधकों को) मुक्ति प्राप्त होती है। "मैं अखिल विश्व के पदार्थों का सर्व स्वरूप एवं अविनाशी हूँ," यह तीसरे प्रकार का निश्चय है।

"मैं और यह सम्पूर्ण जगत् आकाश के समान शून्य है," यह चौथे प्रकार का निश्चय है। इनमें प्रथम निश्चय बंधनमें डालने वाली तृष्णा से ओतप्रोत है। शेष तीन प्रकार के निश्चय पवित्र तृष्णा वाले हैं। जो लोग इन तीन प्रकार के निश्चयों से युक्त होते हैं वे आत्म तत्त्व में रत रहने वाले जीवन्मुक्त हैं।

जीव बन्धन में कैसे पड़ता है, यह स्पष्ट करते हुए महर्षि ऋभु आगे कहते हैं कि—जिस आत्म-शक्ति को मापायमान करने में देश, काल और क्रिया-शक्ति असमर्थ रहती है वह आत्म-शक्ति उन्नत-अनन्त पदमें अवस्थित है। वह चित्-शक्ति जानने में न आने से अपरिमित सी होकर रूप भावना वाली होती है, तब उसके साथ नाम और संख्या आदि लग जाती है। चित्-शक्ति का यह रूप देश, काल और क्रिया का आधारभूत है तथा विकल्प के रूप का धारण करने वाला है, वही क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। फिर वह वासनाओं की कल्पनासे अहंकार का धारक होता है। निश्चयात्मक एवं दोषयुक्त हुआ अहंकार ही बुद्धि कहा जाता है। वही बुद्धि जब संकल्प का रूप धारण करती है तब मन रूपी हो जाती है और मन जब घोर विकल्प में पड़ जाता है, तब धीरे-धीरे इन्द्रिय रूप को प्राप्त होता है। इस प्रकार संकल्प और वासना की रस्सी में बँधकर जीव अधोगति को प्राप्त होता है। जैसे रेशम का कीड़ा अपनी इच्छा से बन्धन में पड़ता है, वैसे ही शक्तिमय चित् घोर अहंभाव को प्राप्त होकर बन्धन में पड़ जाता है। बंधन में जकड़े हुए सिंह के समान अपने द्वारा कल्पित तन्मात्रा रूपी पाश में बँधकर यह चित्-शक्ति नितांत विवश हो जाती है। यह आत्मा ही कहीं अहंकार रूप से और कहीं चित्त के नाम से जाना जाता है। इसे ही कहीं मन, कहीं बुद्धि और कहीं ज्ञान कहा गया है। वही कहीं क्रिया कहलाती है, कहीं प्रकृति, कहीं इच्छा और अविद्या कही गई है। कहीं आशारूपी पाश का निर्माता सम्पूर्ण जगत को वैसे ही धारण करता है जैसे बिना फल का वट-बीज वट के वृक्ष को धारण करता है। इस प्रकार मन ही जीव के बंधन तथा मोक्ष का मूल कारण है। समस्त चराचर जगत की सृष्टि का मूल भी यही शक्तिमान मन ही है। महोपनिषद् का कथन है—

पूर्वं मनः समुदितं परमात्मतत्त्वात्,
तेनाततं जगदिदं सविकल्पजालम्॥
शून्येन शून्यमपि विप्र यथाम्बरेण,
नीलत्वमुल्लसति चारुतराभिधानम्॥
संकल्प संक्षय वशाद्गलिते तु चित्ते,
संसारमोहमिहिका गलिता भवन्ति।
स्वच्छं विभाति शरदीव खमागतायां,
चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्त मन्तः॥

अर्थात् परमात्म तत्त्व से पहले पहल मन का ही आविर्भाव हुआ। फिर उसी मन के विकल्प रूप यह संसार प्रकट हुआ। शून्य भी शून्य को उत्पन्न करने वाला है। जैसे आकाश से सुन्दर दिखाई पड़ने वाली नीलिमा प्रकट होती है।

मन और योग

★ श्री मनमोहन कृष्ण त्रिखा

योग की वर्णाक्षरी मन की एकाग्रता से प्रारम्भ होती है। मन ही धारणा और ध्यान का मूल है। सन्त-महात्माओं ने भी भगवान्-दर्शन का रहस्य मन के नियंत्रण को कहा है। कबीरदास जी कहते हैं—

कबिरा मन निर्मल भयो जैसे गंगा नीर।
पाछे-पाछे हरि फिरें कहत कबीर कबीर॥

यदि मन निर्मल हो गया तो बस, फिर समाधि-प्राप्ति में देर नहीं। एक संत ने कहा है—"मन चंगा तो कठौती में गंगा।" यह मन ही है जो जीव को आनन्द की खोज में इधर-उधर भटका रहा है। वास्तव में मन है तो आनन्द की खोज में और वह आनन्द को खोजता है। रस में (रसास्वादन में), गंध रूप, स्पर्श और मधुर शब्दों में, मान और सम्मान में, काम और धन में। उदाहरण के तौर पर—यदि एक मनुष्य का मन मकान बनाने का इच्छुक है तो ये मन उस व्यक्ति को मकान बनाने में इतना व्यस्त कर देगा कि वह पागलों की तरह बस एक ही धुन में लगा रहेगा और वह है मकान बनाना। मकान बनाते समय मन व्यक्ति को यह आश्वासन भी दिलाये रखता है कि बस मकान बनना समाप्त होते ही शेष तुम्हारे लिए जीवन भर कोई और कठिन कार्य नहीं रह जायगा। बस, मकान बना और तुमने शेष सारा जीवन आराम से बिताया, परन्तु ऐसा होता नहीं है। ज्योंही मकान बनकर तैयार हुआ, मन व्यक्ति के सामने दूसरा कार्य पैदा कर देता है और व्यक्ति को उसमें व्यस्त कर देता है। इसी प्रकार से एक कार्य समाप्त होने पर दूसरा कार्य तुरंत ही व्यक्ति के सामने पेश कर देता है और इसे पागलों की तरह इधर-उधर भटकाता रहता है। वास्तव में मन को अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त करने में उतना आनन्द नहीं मिलता जितना कि वह खोज में होता है। वह बेचारा मृग की तरह कस्तूरी को बाहर खोजता है। इसे मालूम नहीं कि वह शाश्वत आनंद, जिसकी खोज में वह है, उसके अन्दर ही है (कस्तूरी मृग की तरह)। हमारे शास्त्रों में ठीक ही कहा है—

मन एव मनुष्याणाम् कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात् मन ही मनुष्य के बंधन एवं मोक्ष का कारण है। कबीरजी कहते हैं—

साधु दुखी, अवधूत दुखी है,
रंक दुखी धन रीता रे।
कहे कबीर वो ही नर सुखिया,
जो ने मन को जीता रे॥

जब मनुष्य का नाश हो जाता है तब चित्त की प्रवृत्तियाँ नष्ट जाती हैं और उसके परिणामस्वरूप जगत का मोहरूपी कुहरा भी नष्ट जाता है। तब शरद ऋतु के आगमन पर निर्मल हुए आकाश के समान वह जन्म रहित सभी प्राणी पदार्थों का आदि और एक चिन्मात्र रूप ही भासित होता है। ★

मन और मन का स्वभाव

इतना ज्ञान लेने के पश्चात् यह मन ही मनुष्य को भव-सागर से पार कर सकता है, हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि मन क्या है और इसका स्वभाव क्या है ? मन अन्तः-करण की उस वृत्ति का नाम है, जो किसी भी विषय के बारे में संकल्प-विकल्प करती है। अन्तःकरण की वह वृत्ति जो निश्चय करती है, उसे बुद्धि कहते हैं। अन्तःकरण की वह वृत्ति जो स्मरण रखती है, उसे चित्त कहते हैं। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि वास्तव में चित्त, बुद्धि और मन एक ही हैं, क्योंकि इसके अलग-अलग भाग भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, इसलिए इनको तीन अलग नाम दे दिये गये हैं। वास्तव में इन तीनों को मिलाकर मन कहना ही उचित होगा।

मन है तो जड़, लेकिन आत्म-तत्व से चेतना प्राप्त कर यह चेतन बन जाता है। मन में अपने आपको देखने की क्षमता होती है। मन की सहायता से ही एक व्यक्ति अपने मन का विश्लेषण कर सकता है और मन में जो कुछ भी चल रहा होता है उसे देख भी सकता है। मन का स्वभाव है बहुत ही चंचल होना। एक समय पर यह एक ही विषय को ग्रहण करता है, लेकिन दूसरे ही क्षण दूसरे विषय पर, फिर तीसरे पर पहुंच जाता है। लेकिन जिस समय यह एक विषय को ग्रहण कर रहा होता है (चाहे क्षणमात्र के लिए हो), उस समय यह दूसरे किसी विषय के बारे में नहीं सोच पाता। इन्द्रियाँ अपना कार्य मन की सहायता के बिना नहीं कर सकतीं। उदाहरण के तौर पर यदि हमारा मन किसी विचार में खूब मग्न है तो हमें अपने पास आकर आवाज देने वाले व्यक्ति की आवाज नहीं सुनाई देगी। पास आवाज देने वाला व्यक्ति हमारे शरीर को पकड़ कर हिलाये और अपनी बात कहेगा, तब हमें सुनाई देगी, क्योंकि हमारा मन उस विचार से वापिस लौट आया है। हम उस व्यक्ति से कहेंगे—"हमारा मन कहीं और था, इसलिए हम तुम्हारी बात को नहीं सुन सके।" इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ भी अपना कार्य मन की सहायता से कर सकती हैं। मन बहुत शक्तिशाली है। यदि हम कोई भी कार्य पूरा मन लगाकर करें, तो हमें अवश्य ही सफलता प्राप्त होगी। भगवान् श्रीकृष्ण ने जो भी कार्य किया पूरे मनोयोग से (पूरा मन लगाकर) किया। चाहे वह अर्जुन का रथ चलाने का कार्य हो, युद्ध करने का या फिर प्रेम करने का। इसीलिए सफलता ने उनके चरण चूमे। यदि हम कोई कार्य आंशिक मन से करते हैं तो असफलता प्राप्त होगी ही होगी। इसलिए सफलता की कुंजी है पूरे मन से कार्य करना। मन सदैव आनन्द की तलाश में रहता है। किस कार्य में उसे कितना आनन्द मिला, इस बारे में विलियम जेम्स, एक मनोवैज्ञानिक ने यह फार्मूला बताया है—

$$\text{आनन्द} = \frac{\text{लाभ}}{\text{आशा}} \left(\text{Satisfaction} = \frac{\text{Achievement}}{\text{Expection}} \right)$$

यदि एक व्यक्ति को किसी कार्य में आशा से अधिक लाभ हो तो उसे आनन्द अधिक मिलेगा। इसके विपरीत यदि आशा अधिक हो और लाभ कम हो, तो आनन्द कम (या कभी-कभी निराशा भी) मिलेगा। इस फार्मूले के अनुसार भी यदि हम अपनी आशा बिल्कुल कम कर दें, तो हमें कार्य [illegible] में

आनन्द आयेगा। भगवान् श्रीकृष्णजी का यह सन्देश कि फल की आशा किये बिना कार्य करो, बहुत व्यावहारिक है।

मनोनिग्रह के उपाय

भगवान् श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को मनोनिग्रह का उपदेश दिया। लेकिन अर्जुन ने मन के नियन्त्रण को कठिन बताते हुए कहा—

चंचलं हि मनः कृष्ण,
प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये,
वायोरिव सुदुष्करम् ॥

—गीता ६/३४

अर्थात्—यह मन बड़ा ही चंचल है, विह्वल करने वाला, बलवान् और दृढ़ है। उसका निग्रह करना (वश में करना) मैं वायु की भांति अति कठिन मानता हूं। इसका उत्तर भगवान् श्रीकृष्णजी ने इस प्रकार दिया—

असंशयं महाबाहो,
मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय,
वैराग्येण च गृह्यते ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन की बात को स्वीकार करते हुए कहा कि मन निःसन्देह चंचल है और कठिनता से वश में होने वाला है, लेकिन अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जा सकता है।

अभ्यास और वैराग्य

यत्नपूर्वक मन को अपने ध्येय में बार-बार लगाने के प्रयास को अभ्यास कहते हैं। अपने मन्त्र का जप करना और श्री गुरुदेव द्वारा बतायी विधि द्वारा ध्यान करना ही अभ्यास है। भगवान् पतञ्जलिजी कहते हैं—

स्वाध्यायाद्योगमासीत्
योगात्स्वाध्यायमामनेत ।
स्वाध्याय योग सम्पत्या
परमात्म प्रकाशते ॥

योगाभ्यासी साधक पहले स्वाध्याय करे (गुरु-मन्त्रों का जप या शास्त्रों का अध्ययन), फिर ध्यान करे। ध्यान के पश्चात् जप और जप के पश्चात् ध्यान। ऐसा अभ्यास करने से परमात्मा का प्रकाश होता है और सांसारिक वस्तुओं के प्रति वैराग्य स्वयं उत्पन्न हो जाता है।

श्री रामकृष्ण परमहंस एक हाथ में पैसे और दूसरे हाथ में मिट्टी रख लिया करते थे और फिर एक हाथ से पैसे (टाका), दूसरे हाथ में और दूसरे की मिट्टी पहले हाथ में बार-बार रखा करते और कहते जाते—"टाका-माटी, टाका-माटी।" यानी पैसा और मिट्टी बराबर हैं। यह कहते-कहते दोनों को फेंक देते थे। इस प्रकार वे टाका-माटी का अभ्यास किया करते थे। स्वामी रामतीर्थ जी को सेब बहुत अच्छे लगा करते थे और अचानक जप करते हुए मन सेब पर चला जाया करता था। एक बार उन्होंने सेब खरीदे और अपने सामने रख लिए। उनका मन बार-बार सेब की ओर जाता था, लेकिन उन्होंने मन पर नियन्त्रण रखा और नहीं खाये। कुछ दिन पश्चात् सेब सड़ गये और उनमें कीड़े पड़ गये। फिर कभी उनका मन सेब की ओर नहीं लपका। यदि साधक प्रयत्नपूर्वक मन को एक विषय से हटा ले तो मन कहना मानने लगता है और दूसरे विषयों से हटाने का प्रयत्न करने पर उन विषयों से हटने लगता है।

मनोनिग्रह के अभ्यास का एक और तरीका भगवान् पतंजलिजी ने बतलाया है और वह है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

—योग-दर्शन १/३३

अर्थात्—सुखी व्यक्तियों के साथ मित्रता, दुःखियों के प्रति दया, पुण्यात्माओं से मिलकर हर्ष और पापी की ओर उपेक्षा भाव—इन भावनाओं के अनुष्ठान से चित्त की प्रसन्नता होती है। इसलिए इनके द्वारा योगी अपने चित्त को प्रसादयुक्त कर एकाग्र करे। दूसरों के सुख में अपना सुख अनुभव करने के अभ्यास से मन की सङ्कीर्णता दूर हो जाती है और चित्त सर्वव्यापी हो जाता है। इन सूत्रों के पीछे गहन रहस्य भरे पड़े हैं, उन सबका उल्लेख करने से लेख बहुत बड़ा हो जायेगा, इसलिए उनका उल्लेख नहीं किया गया है।

अन्न

मन का आधार अन्न है। सात्त्विक भोजन करने वालों के मन स्वतः एकाग्र रहते हैं। तामसिक और राजसिक भोजन करने वालों के मन प्रयास करने पर भी एकाग्र नहीं होते। अतः मन के निग्रह के इच्छुक व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक है कि वे केवल सात्त्विक भोजन करें जैसे गेहूँ, चावल, फल, दूध, घी। खट्टे और बासी भोजन से दूर रहें। तामसिक और राजसिक भोजन न करें। छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालकजी अपने पुत्र श्वेतकेतु को बताते हैं कि जिस प्रकार मथे हुए दही का सूक्ष्म भाग इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है और घृत कहलाता है। उसी प्रकार खाये हुए अन्न का सूक्ष्म भाग जो मन होता है। इस पर श्वेतकेतु ने अपने पिता उद्दालक से फिर से समझाने की प्रार्थना की। उद्दालक ने कहा कि तुम पन्द्रह दिन तक अन्न ग्रहण न करो, केवल जल ग्रहण करते रहना, जिससे कि तुम्हारे प्राण बने रहें। श्वेतकेतु ने पन्द्रह दिन केवल जल ग्रहण किया, अन्न नहीं खाया। सोलहवें दिन उनके पिताजी ने उनसे वेदों का पाठ करने को कहा, जो वे पन्द्रह दिन पहले किया करते थे। श्वेतकेतु ने कहा कि वह उसको स्मरण नहीं है। पिता ने फिर उसे अन्न ग्रहण करने को कहा। अन्न ग्रहण करने के पश्चात् उसको फिर से सब कुछ स्मरण हो आया। इस प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है कि मन का आधार अन्न ही है और जैसा व्यक्ति अन्न खाता है वैसा ही उसका मन होता है।

मनोनिग्रह के अन्य उपाय हैं—नैत्यिक व्यायाम, सत्संग और मन को हमेशा व्यस्त रखना। मन की प्रसार-भूमि नाड़ियाँ हैं जो नित्य आसन करने से मल-रहित और शुद्ध रहती हैं। मन को व्यस्त रखना बहुत ही आवश्यक है। कहावत है—'खाली मन शैतान का वास।' मन को लेखकर शास्त्रीय अध्ययन आदि में व्यस्त रखना चाहिए। सत्संग और प्राणायाम से मन कैसे नियन्त्रित होता है, ये अपने आप में अलग विषय हैं। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सत्सङ्ग और प्राणायाम से भी मन अवश्य ही एकाग्र होता है।

यदि ऊपर बताये साधनों को साधक अपनायेंगे तो उनके मन अवश्य एकाग्र होने लगेंगे।

सिद्ध गुफा का योग महामेला

तथा

प्रभुजी का जन्मशती-समारोह

विविध रंगारंग कार्यक्रमों के साथ सम्पन्न

(हमारे अपने प्रतिनिधि द्वारा)

यों तो सिद्ध गुफा सथाई आश्रम पर चैत्र शुक्ला नवमी को प्रति वर्ष ही एक योग महामेले का त्रिदिवसीय आयोजन पिछले अनेक वर्षों से होता रहा है। किन्तु इस वर्ष यह योग महा मेला बड़ी तैयारी और धूमधाम के साथ बड़ी विविध ज्ञानवर्द्धक और रोचक कार्यक्रमों के साथ दिनांक २० मार्च ८८ से २६ मार्च ८८ तक (लगभग एक सप्ताह भर) विभिन्न कार्यक्रमों के साथ चलकर सम्पन्न हो गया। निकटस्थ तथा दूरस्थ सभी प्रमुख नगरों और कस्बों के कई हजार योग पंथानुरागी भाई-बहनों ने इस उपयोगी रंगारंग वृहद आयोजन में सम्मिलित होकर अपने आराध्य इष्टदेव तथा अपने श्री गुरुदेव के प्रति अपनी निष्ठा और श्रद्धा का गहरा परिचय दिया। पूज्य श्री गुरुदेवजी के निर्देशन में इस पूरे आयोजन की व्यवस्था श्री सिद्ध गुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र से सम्बन्धित ब्रह्मचारियों और अनेक योग-साधक भाई-बहनों ने सम्हाली हुई थी। बाहर से आने हुए सभी साधकों के आवास और भोजनादि की पूरी व्यवस्था निःशुल्क आश्रम की ओर से ही सदा होती रही है इस बार भी ऐसा ही हुआ था। पुरुषों और महिलाओं के स्नानागार, आवास आदि सभी की अलग-अलग व्यवस्था थी। किसी को भी आवास की कहीं कोई असुविधा न हो इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा गया था। इसके लिए आश्रम में पक्के बने निर्माण कक्षों के अतिरिक्त शोलदारियों और छोटे तम्बुओं की आवश्यक व्यवस्था भी अलग से की गई थी।

पूरे सप्ताह भर के सभी कार्यक्रमों का निर्देशन तथा इन सबकी अध्यक्षता एवं संचालन सभी श्री गुरुदेव जी महाराज ने स्वयं सम्हाली थी। सब का समर्थन भी इसी प्रकार का था।

इस बार सभा मंच और मण्डप विशेष रूप से सजाया गया था। बिजली की व्यवस्था भी विशेष आकर्षक और नयनाभिराम ढंग से की गई थी। बिजली की इस विशेष सजावट में सभामण्डप सायंकाल होते ही अपनी विशेष छवि के साथ जगमगाने लगता था। सांस्कृतिक कार्यक्रम बहुधा रात्रि-वेला में ही आयोजित किए जाते थे। इसके लिए एक विशेष रंगमंच अलग से बनाया गया था जिसकी साज-सज्जा भी दर्शनीय और अति आकर्षक थी। प्रहसन-प्रदर्शनों को इस साज-सज्जा ने अधिक शोभनीय बना दिया था।

चित्र-वीथी :

एक और नया आयोजन इस अवसर पर एक अलग कक्ष में जो अधिवेशन मंच के समीप ही था चित्र-वीथी का किया गया। इसमें प्रभुवर श्री रामलाल जी के विविध

यौगिक चरित्रोंको प्रदर्शित किया गया था। इसमें प्रदर्शित सभी चित्र कलापूर्ण एवं घटना-क्रम तथा भावव्यंजना की दृष्टि से अति उत्तम थे। प्रभुजी के चित्रों के अतिरिक्त सद्गुरुदेव भगवान् के अनेक चित्र भी लगाये गये थे जो भिन्न-भिन्न अवसरों पर लिये गये थे। श्री गुरुदेव जी के ये विभिन्न अवस्थाओं के चित्र भी बड़े ही भावपूर्ण और दर्शनीय रहे। सभी चित्रों के नीचे उनसे से सम्बन्धित परिचय-पंक्तियाँ सुपाठ्य अक्षरों में लिखी हुई थीं। दर्शकों को दिशा-बोध देने के लिए चित्र वीथी में सुयोग्य ब्रह्मचारी और साधक बन्धु विशेष रूप से नियत थे जो दर्शकों की जिज्ञासा का समाधान भी तत्काल करते जाते थे। खुले समारोह का प्रत्येक दिन का कार्यक्रम प्रभुजी की सामूहिक आरती से ही प्रारम्भ होता रहा।

सामूहिक आरती का समूचा दृश्य बड़ा आह्लादकारक और साधकों की श्रद्धा भावनाओं से ओत-प्रोत अत्यन्त ही अनूठा और अनुपम रहता रहा। अनन्त श्री गुरुदेव जी महाराज स्वयं उच्च स्वर से महाप्रभु जी की अमर आत्मा को प्रत्यक्ष अपने सामने उपस्थित मानते हुए जब भक्तिभाव से आरती विनयाञ्जलि अर्पित करते तब यह दृश्य बड़ा सुखवर्द्धक और दर्शनीय बन जाता था।

गुरुदेव जी द्वारा प्रारम्भ किये गये आरती गान का अनुकरण करते रहे सहस्रों उपस्थित भाई-बहन। साधकों की रसतन्मयता और भावावेश में खो जाने के दृश्य भी इस अवसर पर बहुधा दिखलाई पड़ते रहे। इसके तुरन्त बाद आरम्भ हो जाता रहा—

खुला अधिवेशन

इसका प्रारम्भ भी श्री गुरुदेव जी के प्रवचन से ही होता रहा। श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों का वाचन और सैद्धान्तिक विवेचन ही प्रायः दोपहर पूर्व के इस कार्यक्रम का मुख्य भाग रहता था जिसे अनेक रोचक प्रमाणों कथानकों और उदाहरणों द्वारा गुरुदेव भगवान् भलीभाँति समझाते थे। यह कार्यक्रम समाप्त होने पर दोपहरके भोजन एवं क्षणिक विश्राम के लिए सब कार्यक्रम स्थगित हो जाता था। इसके बाद लगभग २॥ बजे से इसी खुले मण्डप में पुनः बड़े ही उत्साह और उल्लासमय वातावरण में

महिला संकीर्तन और सत्संग

का रोचक कार्यक्रम शुरू हो जाता था। संगीतरत्न बहन उमा शर्मा इसका शुभारम्भ अपने गीता सम्बन्धी उन गीतों से करती रहीं जिन्हें गीता के श्लोकों का पद्यात्मक भावानुवाद कहा जा सकता है। बहन विमला शर्मा तथा अन्य बहिनियाँ भी इस कार्यक्रम को रोचक बनाने में विशेष रूप से भाग लेती रहीं। वस्तुतः महिला सत्संग का कार्यक्रम बड़ा रोचक और लाभप्रद रहता रहा। श्री पुरुष वर्ग इसमें भारी संख्या में उपस्थित हो शान्तिपूर्वक कार्यवाही के अन्त तक मूक श्रोता बने रहते थे। इस कार्यक्रम में प्रभुजी के यौगिक चरित्रों का प्रभावोत्पादक वर्णन भी बहन उमा शर्मा के गेय-गीतों द्वारा सुनने समझने का अवसर सबको मिलता रहा। इसके समाप्त होने पर लगभग ४ बजे से श्री गुरुदेव जी एवं अन्य आगत विद्वानों के

योग प्रवचनों का कार्यक्रम

प्रारम्भ हो जाता है। इस सन्ध्या वेला में भी श्री गुरुदेव जी योग सिद्धान्तों की

यथार्थता पर अपने चिन्तन और विचारों से अपने साधना प्रिय बच्चों को समझा कर लाभान्वित करने की ही चेष्टा विशेष रूप से करते थे। पूरा कार्यक्रम सप्ताह भर तक इसी क्रम से प्रतिदिन चलता रहा। श्री गुरुदेवजी महाराज ने अपने इस इस अवसर के प्रवचनों के जिन सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला वे प्रायः इस प्रकार थे :

योग ही क्यों ! कर्माशय क्या, ज्ञानक्षेत्र के निर्माण के लिए देव, द्विज, गुरु, विद्वानों का पूजन, शौच आदि के नियमों का परिपालन, शारीरिक, मानसिक, वाचिक तप की साधना से सिद्धियों का प्रादुर्भाव, वैराग्य साधन, तथा प्रारब्ध का निर्माण कैसे और क्यों, फलभोग से बचने के उपाय, सद्गुरु तत्व आदि बड़े ही सुबोधगम्य ढंग से श्री महाराज श्री ने इन पर प्रकाश डाला

सांस्कृतिक कार्यक्रम

प्रभुजी की शताब्दि जयन्ति-समारोह का सबसे अधिक रोचक और दर्शनीय कार्यक्रम सांस्कृतिक कार्यक्रम ही रहा, जिसे आश्रम से ही सम्बन्धित साधक भाई-बहनों ने प्रहसन के रूप में प्रदर्शित किया, जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, प्रहसन प्रदर्शन के लिए एक विशेष रंगमंच का निर्माण अलग से कर लिया गया था। इसमें महाप्रभुजी के अवतरण और उनकी योग-परक जीवन लीलाओं का सुन्दर मंचन किया गया। गायन वाद्य आदि सभी का संगतिकरण प्रभोत्पादक रहा था। कलाकारों के रूप में न केवल छोटे बालकों ने बल्कि योगी श्री हरिभक्त जी चैतन्य और ब्रह्मचारी श्री दासलाल जैसे वयस्क साधकों ने भी उत्साहपूर्वक भाग लेकर अपनी पात्रता का प्रभावोत्पादक परिचय दिया। इस कार्यक्रम का पूरा निर्देशन और नियन्त्रण संगीतरत्न बहन उमा शर्मा ने ही किया था।

२० मार्च को प्रथम दिन द्रौपदीचीर हरण नाटिका प्रदर्शित हुई, जिसमें द्रोपदी का पार्ट श्री सीमा सक्सेना, ग्वालियर निवासी ने उत्तम रीति से किया। सुश्री सीमा सक्सेना का रामरती अभिनय भी सुन्दर रहा। इन प्रहसन प्रदर्शनों में श्री रामकुमार गोयल, श्रीमती शकुन्तला, श्री सतीश शर्मा तथा विख्यात तबला-वादक श्री कृष्णकान्त झा का योगदान भी प्रशंसनीय रहा।

श्री गुरुदेव जी महाराज ने अपने प्रवचनों में जिन योग सिद्धान्तों पर अपने विचार प्रकट किये वे बड़े ही उपादेय थे—

२६ मार्च के सभी कार्यक्रम विशाल ब्रह्मभोज और गुरुपूजन के अभूतपूर्व समारोह के साथ समापन दिवस के रूप में मनाये गये। गुरुदेव जय-जय प्रभु रामलाल जय-जय की गगनभेदी ध्वनियाँ आकाश में व्याप्त होकर सभी को यह बता रही थी कि मनुष्य जीवन के कल्याण का यदि कोई एकमात्र साधन है तो वह है एकमात्र योग। सवाई आश्रम में इस समारोह में भाग लेने आई कई हजार साधकों की भारी भीड़ भी योग मार्ग की लोकप्रियता का ही परिचय दे रही थी।

अमरीकी युवक-युवतियों ने योग दीक्षा ली

महाप्रभुजी के जयन्ती समारोह की अन्तिम तिथि को सिद्ध गुफा प्रांगण में अमरीका से आये हुए आठ विदेशी युवा योग प्रेमियों ने श्री सद्गुरुदेव जी महाराज से योग दीक्षा ग्रहण की। इन्होंने दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व पूज्य श्री गुरुदेव जी महाराज को आश्वस्त किया कि वे अपना आहार-विहार योगानुकूल ही रखते रहे हैं तथा आगे भी इसी प्रकार अपनी जीवनचर्या बनाये रहेंगे।

इन सभी दीक्षार्थियों ने जिनमें स्त्री-पुरुष दोनों ही थे, जयन्ती समारोह में आयोजित नन्नूमल विद्यालय के आचार्य के निर्देशन में छात्रों तथा आश्रम के ब्रह्मचारियों द्वारा विविध यौगिक आसनों की प्रक्रिया को भी देखा और समझा। किस आसन से क्या लाभ होता है तथा कौन-सी शारीरिक व्याधि किस आसन से दूर होती है इसे परम तपोनिष्ठ योगी श्री हरिभक्त जी चैतन्य द्वारा प्रदर्शन के अवसर पर समझाया गया जिसे ध्यान से सुनने और समझने में सभी दर्शकों ने अपनी गहरी रुचि का परिचय दिया।

'सिद्धयोग' हिन्दी मासिक (पत्रिका) का विवरण

फार्म नं० ४

१. प्रकाशन का स्थान—	श्री सिद्ध गुफा सवाई, आगरा (उ० प्र०)।
२. प्रकाशन का अवधिक्रम—	मासिक
३. मुद्रक का नाम—	देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
राष्ट्रीयता—	भारतीय
पता—	कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई फार्म, ताजगंज, आगरा।
४. प्रकाशक का नाम—	श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सवाई, आगरा।
राष्ट्रीयता—	भारतीय
पता—	श्री सिद्ध गुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र सवाई, आगरा।
५. सम्पादक का नाम—	योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज।
राष्ट्रीयता—	भारतीय
पता	श्री सिद्ध गुफा सवाई, आगरा।
६. स्वत्वाधिकारी—	अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज।

मैं देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' यह घोषणा करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य है।

कृते सिद्ध गुफा प्रकाशन, सवाई
देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 May 1968

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, खर्राई (रामपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

1563

1553

श्री

१८८७
रमेश दण्डोदिया S/o पु० शोराम दण्डोदिया
बाबा हरीदास का मन्दिर बसपुरा
मुरैना म० प्र०

★ समाधि क्या ? ★

ध्यान की परिपक्वावस्था समाधि होती है। ध्यान जब गाढ़ा हो जाता है तथा अनुभव करने वाला अनुभवगम्य स्वयमें खो जाता है, केवल अर्थमात्र (दर्शन का विषय मात्र) स्थिर हो जाता है और अपना बोध समाप्त सा हो जाता है, तो उस अवस्था को समाधि कहते हैं। बेहोशी, मूर्छा या क्लोरोफार्म की संवेदना शून्यावस्था को समाधि नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इन सभी अवस्थाओं में तमोगुणकी प्रधानता रहती है, जबकि समाधि में शुद्ध-सत्व का प्रकाश होता है। जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था को योगदर्शन के भाष्यकार व्यासदेव महाराज समाधि कहते हैं। मन के समाधान को भी समाधि कहा जाता है। "समाधानं समाधिः।" मन जब संकल्प-विकल्प रहित होकर एकाग्र हो जाता है तो प्राणों की गति भी आड़ी-तिरछी न रहकर एक दिशा में प्रवाहित होने लगती है।

—आचार्य बनारसी शर्मा

मुद्रक—बैजनाथप्रसाद शर्मा 'सिद्ध' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बड़ई काली ..., आगरा-२ फोन ६५५४६